भारत के आदिवासी–1

हिमालय के यायावर

डॉ० श्याम सिंह शशि

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय
भारत सरकार

प्रथम संस्करण, वैशाख 1908 ● मई 1986

द्वितीय संस्करण भाद्रपद 1909 ● अगस्त 1987

मूल्य : 40.00 रुपये

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली–110001 द्वारा प्रकाशित।

विक्रय केन्द्र ● प्रकाशन विभाग

- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली–110001
- कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, बम्बई–400038
- 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता–700069
- एल० एल० आडीटोरियम, 736 अन्नासलै, मद्रास–600002
- बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना–800004
- निकट गवर्नमेन्ट प्रेस, प्रेस रोड, त्रिवेन्द्रम–695001
- 10 बी०, स्टेशन रोड, लखनऊ–226019
- स्टेट आर्किलाजिकल म्यूजियम बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन्स, हैदराबाद–500004

लालचन्द राय एण्ड कंपनी प्राइवेट लिमिटेड, कलकत्ता द्वारा मुद्रित।

भारत के महान
यायावर शास्त्री
राहुल सांकृत्यायन को

—शशि

लेखकीय

अपनी दो विश्व–यात्राओं में हिमालय मेरे "यायावर" से जुड़ा रहा और मेरे 'कवि' से भी।

नही जानता 20 वर्ष पूर्व हिमालय के महान लोक सेवक पं० धर्मदेव शास्त्री "दर्शन केसरी" ने "हिमालय" मासिक पत्रिका के सम्पादन का कार्यभार मेरे युवा कन्धों को कैसे सौंप दिया।

अशोक आश्रम, कालसी, देहरादून के मेरे पुराने मित्र मेरी दीर्घकालीन यायावरी तथा समाज–नृवैज्ञानिक शोध के चश्मदीद गवाह हैं।

इस विषय पर अंग्रेजी में ढेर सारा लिखने पर भी मन नही भरा और सृजन के लिए मा भारती के द्वार खटखटाने पड़े।

प्रस्तुत पुस्तक के बहुत से अंश रिपोर्ताज–शोध-लेख के रूप में यत्र-तत्र प्रकाशित-*अप्रकाशित सामग्री का संशोधित-परिवर्तित रूप हैं। डा० मनोहर लाल के सुझाव* तथा चि० आलोक कुमार सिंह के प्रयासो ने भी इसे नया रूप देने का प्रयत्न किया है। धन्यवाद दूं या स्नेह–शायद दोनों ही।

प्रकाशन विभाग छोड आया पर आत्मा वहा के सरस्वती-मन्दिर मे भटकती रही। शायद इसीलिए श्री पुलिन विहारी बडाठाकुर, श्री बलराज सूरी और श्री रमेश नारायण तिवारी, श्री देशबन्धु आदि मित्रो के अनुरोध को नही टाल *सका। कृतज्ञता–ज्ञापन* परायों के लिए होता है, अपनों के लिए नही।*

जो भी बन पड़ा, अपने कृपालु पाठको को सौंप रहा हू।

श्याम सिंह शशि

अनुसंधान
दिल्ली—32
1.2.1984

---

*क्षेत्रीय प्रचार निदेशालय के तत्कालीन निदेशक के पद पर कार्यरत। प्रशासकीय दायित्वों के बावजूद सृजन जारी रहा और प्रकाशन विभाग के अनुरोध पर "भारत के आदिवासी" सीरीज की प्रथम कड़ी।
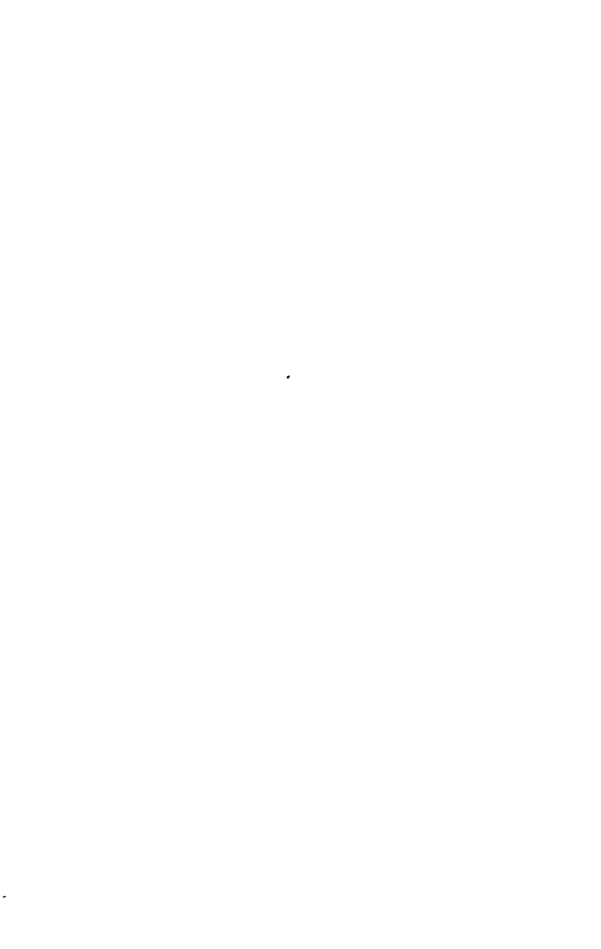
क्रम

1

यायावरी : एक जीवन, एक दर्शन

यायावरी*

यायावरी
एक अनवरत खोज

हिमालय की कन्दराओं में
कश्मीर से मणिपुर तक खोजा
जंगलों से रेगिस्तानों तक
मृगतृष्णा थी यायावरी
भागता रहा उसके पीछे मैं
धरती और आकाश में

नद-नालों को छोड़—
लांघ गया, विस्तृत गहरे समुद्र
हिन्द महासागर से
अन्ध महासागर तक,
प्रशान्त से अशान्त तक

आल्प्स पर उड़ा
यूराल पर चढ़ा
और कभी लटका आकाश में त्रिशंकु–सा

यह दौड़ थी
पगडंडी से राजपथ तक

---

* लेखक के 'यायावरी' कविता-संग्रह की एक रचना

अहर्निश
सम्मोहन त्राटक या वशीकरण
था यायावरो का
मै वस बदलता गया कारवां

सुनता रहा आदि संगीत
"गाता जाए बंजारा।"

—और यही आदि संगीत मेरे समाज-शास्त्रीय अध्ययन की अनुगूज बनती गई। हिमालय के यायावरों के दुख-दर्द देखे-पढे, महसूसे और लिखता रहा बरसो तक उन्हें पत्र-पत्रिकाओं में, पुस्तको में। गद्य और पद्य दोनो में। पर मन नही भरा और फिर चल पडा विश्व के यायावरों को ढूंढने। इन्टीग्रेटेड अप्रोच, अधुनातन शोध पद्धतिया और अनुसंधान का स्वतन्त्र रूप में प्रयोग करता रहा। शोध यायावरी में कितने मिले, कितने छूटे। कौन कहा तक सहभागी वना। किसी ने प्यार से सरावोर किया और कितने ही कड़वे घूंट भी पीने पड़े, यह सब मेरे कथन का अभीष्ट नही और न ही अपने अनुसंधानों की श्लाघा में पाठकों का मन भर वहलाना। मै तो केवल वस्तुनिष्ठता में ही उद्देश्य की सार्थकता मानता रहा हू और इसीलिए सीधे–सादे यायावरों का जन–जीवन सीधी-सादी भाषा में चित्रित कर रहा हूं।

इस अध्ययन में हिमाचल प्रदेश के अर्ध-यायावर गद्दी है तो उत्तर प्रदेश के भोटिया भी। कश्मीर के खानाबदोश गुज्जर है तो कुछ-एक किन्नर भी। पिछले अध्ययनों को वर्तमान में जोडने का प्रयास किया है, अत अपनी निजी कृतियो के अतिरिक्त अन्य कई विद्वानो के अनुसंधानों को भी सादर उद्धृत किया है, जिससे सभवत मेरी अनवरत खोज और बलवती होती गई है।

यायावरो की दुनिया वडी निराली होती है। यायावर स्वतन्त्र जीना चाहता है। दखलन्दाजी उसे कतई पसन्द नही। यायावर स्वभाव से भी होता है और पेशे से भी। पगडंडी से उसका अटूट रिश्ता है। गिरि–गह्वरो में यायावरी पीढिया जन्मती है। एक यायावर मा को अपने नवजात शिशु को कन्धे पर लटकाए पहाड की खडी चढाई पर चढते जब पहली बार हिमालय में देखा था तो ठहर गया था मेरा अध्ययन कुछ क्षणो के लिए और सोचने लगा था—क्या मेरे देश को इसका अहसास हो सकता है कि कोई मा यात्रा-पथ पर शिशु को जन्म देने के एक दिन बाद ही चल पडती है पुन अनन्त यात्रा पर। पर यह कहानी एक नही, उन हजारों माताओं की है जो इसी प्रकार यायावर अथवा अर्ध–यायावर जीवन ढोती है।

मैंने जवानी में वुढियाए अनेक चेहरे देखे है और देखा है कड़ाके की ठड में सी–सी करते, ठिठुरते अर्द्ध–नग्न वालकों को जिन्हें दूध की वजाय नमक के कड़वे पानी को हलक से उतारना पडता है। यायावरी, साहित्य को सृजन की मनोभूमि तो दे सकती है किन्तु समाज वैज्ञानिक को चुनौती तथा चिन्तन के अतिरिक्त शायद ही कुछ दे। पर्यटक आदिवासियो को हसरत भरी निगाहो से देखते है। चित्रकार अपनी तूलिका से उनके एकागी पक्ष को चित्रित करता है और प्रशासक उनके मन पर नही, तन पर शासन करता है।

—और इसी विडम्बना को रेंगता है वेचारा यायावर, जिसे कुछ लोग खानाबदोश जंगली या असभ्य तक कह देते है। काश, किसी के पास हृदय हुआ होता तो कपोल-कल्पित मान्यताओ को पनपने का अवसर न मिलता। लेकिन यह सब हुआ, हो रहा है और होता रहेगा। आखिर क्यो? एक प्रश्न चिह्न हमारे सामने खड़ा है। आइए, पर्यवेक्षण करें उस समाज का—भावुकता की परिधि से बाहर निकल कर।

मै अपने गन्तव्य की ओर बढ रहा हूँ। अगले अध्यायो में उपलब्ध सामग्री तथा अपने यथासंभव अध्ययन पर आधारित कर रहा हूं हिमालय के यायावरों को समाज नृवंशानिक शोध में। यायावर—जो आदि काल से आज तक कही आर्य बन कर घूमते रहे या फिर कही द्रविड संस्कृति के साथ घुलमिल गए। उन्होने एक नए भारत का निर्माण किया और वही भारत विश्व के कोने–कोने में फैल गया।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और ठक्कर बापा ने इस बात का प्रयास किया कि स्वतन्त्र भारत में अनुसूचित जातियों और आदिम जातियो को राष्ट्र की मुख्य धारा से जोडकर उनके सर्वांगीण विकास के लिए व्यापक स्तर पर प्रयास किए जाएं। तदनुसार संविधान निर्माताओ ने सविधान के अनुच्छेद 341 तथा 342 के अन्तर्गत अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों के संरक्षण हेतु विशेष प्रावधान किए।

भारतीय संविधान में विभिन्न अनुच्छेदों के जरिए अनुसूचित जनजातियो के लिए निम्न सुरक्षात्मक उपाय किए गये हैं :

—किसी भी अनुसूचित जनजाति के हित में, आदिवासी क्षेत्रों में सामान्य नागरिको के आने-जाने, बसने और सम्पत्ति के अधिकार में कानून द्वारा कटौती की व्यवस्था है।
—राज्य द्वारा अनुदान प्राप्त शिक्षा सस्थाओ में बगैर किसी भेदभाव के प्रवेश की व्यवस्था की गयी है।
—राज्य सेवाओं में जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गयी है।
—संसद में जनजातियो के लिए विशेष प्रतिनिधित्व की व्यवस्था।
—अनुसूचित जातियों के कल्याण हेतु राज्यो में सलाहकार परिषदो की स्थापना।

भारत का यायावर समाज

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था-

"भारत में बहुत-सी जातिया तथा जनजातिया हैं। उनमें कोई भी देश का प्रधान मन्त्री अथवा राष्ट्रपति बन सकता है।" आदिवासियो को एक संबोधन में उन्होने कहा—"आप जहा भी रहते हैं अपने ढग मे रहिए। यही मेरी इच्छा है। आपको स्वयं तय करना है कि आप किस प्रकार रहना पसन्द करेंगे। आपकी पुरानी परम्परा तथा आदतें अच्छी हैं। हम सबकी तमन्ना है कि वे सब बनी रहें।"

पंडितजी ने क्या चाहा था और विकास–यात्रा में यायावरो को कहा विश्राम–स्थल मिलेगा यह तो भविष्य बतायेगा, किन्तु हमारा ध्यान कुछ तथ्यों की ओर आकर्षित होता है। आइए, पहले अपने संविधान पर ही दृष्टिपात करें।

गाधीजी और ठक्कर बापा का ध्यान उस समय भारत की उन घुमक्कड जनजातियो की तरफ सभवत. नही जा सका होगा जो सदियो से हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक घूमती रहती हैं। न उनके पास घर है और न कोई जमीन है, और न ही जीवन की स्थिरता। आज उनका यहां पडाव मिलेगा तो कल मीलो दूर जंगलों में दिखाई देंगे।

भारतीय घुमन्तू जनसेवक संघ के अनुसंधान के आधार पर भारत के यायावरो को विभिन्न श्रेणियो में विभाजित किया गया है। अंग्रेजी के "नोमैंड" शब्द को हिन्दी में "यायावर", "खानाबदोश" या "घुमन्तू" संज्ञाओं से संबोधित किया जाता है। ये यायावर पूर्णकालिक भी होते हैं और अंशकालिक भी। कुछ लोग अपने पशुओ को चराने के लिए दूर-दूर तक भ्रमण करते हैं, कुछ छह महीने प्रवास में रहकर अपने घर लौट आते हैं, और कुछ अपने घर ही नही बनाते, इसीलिए सदैव रथचक्र की तरह घूमते हैं।

अर्ध यायावरों में गुज्जर, बंजारा, ग्वाला, गद्दी, रवारी, इडियान, टोडा तथा कुरम्बाग्रो के नाम लिए जा सकते हैं। उनके अपने घर होते हैं। किन्तु अपने पशुओं के लिए चारे की तलाश में घर-बार छोडकर चल पडते है और फिर मौसम अनुकूल होते ही अपने घरो को लौट आते हैं।

पूर्णकालिक यायावरों में गाड़िया लोहार प्रमुख है। कहा जाता है कि वे महाराणा प्रताप के वंशज हैं किन्तु प्रतिज्ञावश अपने घरो को वापस नही लौट सके। अत: आज भी अनवरत रूप में प्रवास में रहते है। यहा-वहा कुछ दिन डेरा डालते हैं और फिर आगे बढ़ जाते हैं।

हम यायावरों को निम्न श्रेणियो मे भी रख सकते है:

1. पशुपालक जातियां

(अ) पशुपालक जातियां—अमीर, अहीर, चारण, गद्दी, ग्वारा, घोस, घोसी, ग्वाला, गोपाल, गोपी, घासी, गवारी, गुज्जर, इडियान, कवुन्दन आदि।

(ब) अन्य पशुपालक जातियां—बरावाल, भाखाड, धनगर, गड़रिया, कुरवा।

(स) ऊंट-पालक जातियां—रवारी

(द) प्राचीन पशुपालक जाति—टोडा

अन्य जातिया गाय, भैंस, भेड, बकरी, ऊंट, अथवा सुअर आदि पालती हैं तथा इनमे दो प्रकार के यायावर पाए जाते है। एक वे जो पूरे वर्ष अपने पशुओं को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमते रहते हैं। दूसरे वे जो कुछ समय के लिए ही अपना घर छोड़ते हैं और फिर अपने पशुओं सहित घर लौट आते हैं। ये लोग गाय, भैंस का दूध बेचते हैं। भेड-बकरी चराने वाले ऊन का विक्रय करते हैं और मवेशियों की खरीद-फरोख्त करते हैं।

2. पेशेवर यायावर

ये लोग कलाकार भी होते हैं तथा कई प्रकार के मनोरंजन द्वारा पैसा कमाते हैं। इनमें कुछ श्रेणिया इस प्रकार हैं:

1. सँपेरे 2. मदारी 3. नट 4. सिकलीगर 5. बाजीगर 6. भालू नचाने वाले 7. अन्य।

इनका जीवन कठिनाइयो से भरा होता है। हर आने वाला कल उनके लिए चुनौती भरा होता है क्योंकि उन्हें न केवल अपने पेट की चिन्ता रहती है बल्कि उन्हें अपनी रोटी के साझीदार प्राणियों का भी पेट भरना पडता है।

3. अपराधी यायावर

कुछ जातियो को अंग्रेजों के शासन-काल मे पेशेवर अपराधी (जरायम पेशा) करार दिया गया था, हालांकि इसमें सचाई नही है। योरोप में जो जिप्सी भारत से डेढ़-दो हजार वर्ष पूर्व गए उन्हें उठाईगीर से लेकर बच्चे चुराने वाले तक की संज्ञा दी गई। ये आरोप कालान्तर में गलत सिद्ध हुए। वैसे "बुभुक्षित किं न करोति पापं" के अनुसार कुछ लोगों को अपराधी मान भी लिया जाए तो क्या इसके लिए समाज उत्तरदायी नही है? भारत में इस प्रकार के तथाकथित "जरायम पेशा" समाजों के नाम हैं:

1. सासी 2. कंजर 3. बावरिया 4. डोम 5. झल्लीमार, आदि।

4. व्यापारिक यायावर

इन जातियों को अब अपराधी जातिया तो नही माना जाता किन्तु इनके प्रति भेदभाव अभी तक कम नही हुआ है। सांसी यद्यपि राजपूत वंश का कोई समाज है किन्तु अभी तक वह अपना स्थान नही बना पाया। इसी प्रकार अन्य समाजों की दशा है।

इनमें मुख्यतः बजारा जाति आती है। ये बणज अर्थात व्यापार के कार्य में लगे है लेकिन यह व्यापार आज के व्यापारो से भिन्न रहा है। ये लोग खाद्यान्न या अन्य सामान एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाते थे।

5. भिक्षुक यायावर

भिक्षा मांग कर खाना कभी साधु—संन्यासियो का काम था किन्तु कालान्तर मे कुछ जातियो ने इस कार्य को पेशे के रूप मे अपना लिया। आजकल भिक्षा मांगने की भी नई-नई विधिया निकाल ली गई है। भारत तो गरीब देश है, अतः यहा भिक्षा मांगने वाला दिखाई पड़े तो कोई अजूबा नही। लेकिन मैंने योरोप के धनी देशो में भी लोगों को भीख मागते देखा है—पेट की आग बुझाने के लिए नही, बल्कि शराब और सिगरेट की विवशता के लिए। वहा वाद्य-संगीत बजाते युवक रास्ते मे खड़े हो जाते है और अपना हैट या टोप उल्टा करके रख देते है ताकि आते-जाते लोग उसमे कुछ सिक्के डालते जाएं।

भारत में कुछ भिक्षुक यायावर समाजो के नाम है:

1. जोगी (शायद वे कर्मयोगी रहे होगे) 2 रामास्वामी 3 रंगा स्वामी 4. करवाल 5. सिंगीवाला 6. गुलगुलिया 7. टेढा 8. सिगीकट 9. मुडनटस 10. केला 11. ढोली।

यायावरों की और भी कई श्रेणियां है, किन्तु हमारी शोध तथा उपलब्ध सामग्री के आधार पर हिमालय के कुछ प्रतिनिधि यायावर समाजों का विवरण अगले अध्यायों में दिया जा रहा है।

2

आदिवासी भारत

भारत विविधताओं का देश है । यहा भिन्न-भिन्न संस्कृतिया, अलग-अलग भाषाएं तथा पृथक-पृथक रीति-रिवाज एक साथ विकसित होते रहे हैं । यहा की अधिकांश जनता गावों, जंगलों या पहाड़ों में निवास करती है । इन इलाकों मे कृषि ही जीवनयापन का मुख्य आधार है । मैदानों तथा पहाड़ों की कृषि-पद्धतिया भिन्न हैं । ये पद्धतिया आदिवासी लोगों में तो और भी विचित्र हैं । एक ओर असम की गारो और मध्य-प्रदेश की मुडिया तथा राजस्थान की भील जनजातिया झूम की खेती में खुश हैं तो दूसरी ओर बिलासपुर के बैगा हल से खेती करना धरती मा के साथ पाप समझते हैं । लेकिन ऐसी क्या बात है कि भरपेट अन्न भी पैदा न कर पाकर भी ये जातिया इन पद्धतियों को अपनाए हैं ?

भारत मे आदिवासियो की संख्या तीन करोड से भी अधिक है । उनकी आय का स्रोत हजारों वर्षों से जंगल, पहाड, नदियां तथा अन्य प्राकृतिक साधन रहे हैं । उसी के अनुसार उनके जीवन के मूल्य, रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा सामाजिक ढाचे का निर्माण होता है । उनका सोच तथा बाहरी दुनिया को समझने का दायरा भी उनके परिवेश के परिप्रेक्ष्य में सन्निहित रहता है । वास्तव मे जनजातीय जीवन-पद्धति से अपरिचित लोग उन्हें एक अजीबोगरीब संस्कृति का माडल-भर समझते हुए उनके संगीत और नृत्य तक ही सीमित रहे हैं । उनकी वास्तविक समस्याओं की ओर किसी का ध्यान नही जा पाता । कौन जानता है इन थिरकते पावों में जितने काँटे चुभे हैं उन्हे निकालने की तजबीज इनके पास है या नही । ये काटे और अधिक चुभते जाते हैं । उनका दर्द "औखा पहाडा रा जीणा" (पहाडो का जीवन कितना कठिन है) जैसे कितने ही गीतों में कसमसाता रहा है ।

जनजातियों को प्रकृति से अनवरत संघर्ष करना पड़ा है । ये उदरपूर्ति के लिए कठिन परिश्रम करते हैं । स्वयं निर्मित औजारो को हो उन्होने अपनी कृषि प्रणाली का प्रमुख अग मान लिया है । सुप्रसिद्ध समाज वैज्ञानिक डा० डी० एन० मजूमदार के अनुसार "जनजातीय अर्थव्यवस्था अनेक कारको पर आधारित है । एक जनजाति को अपने आपको उस स्थान के अनुकूल बना लेना चाहिए, जिसमे वे रहते हैं । उनके समूह के सदस्यो में परस्पर निर्भरता के सम्बन्धो का विकास होना आवश्यक है तथा समूह का उचित सगठन होना भी जरूरी है ।"

जनजातियो के अनेक वर्ग किए जा सकते हैं । अर्थव्यवस्था की दृष्टि से क्षेत्रीय, प्रजाति, भाषा एवं संस्कृति के आधार पर इनके निम्न वर्ग किए जा सकते हैं :

1. खाद्य सग्रहीता
2. चरागाही जनजातिया

3. स्थानान्तरित कृषक-समाज
4. स्थायी कृषक-समाज

खाद्य संग्रहीता : इस व्यवस्था में पर्याप्त परिश्रम की आवश्यकता रहती है। जंगली पदार्थ, कन्दमूल, फल तथा पत्ते इकट्ठा करना आसान काम नहीं है। ये लोग शिकार और मछली पकड़ कर भी जीवनयापन करते हैं। छोटा नागपुर के विरहोर, उड़ीसा के ज्वांग, मध्यप्रदेश के कोरवा, केरल के कादर तथा महाराष्ट्र के कतकारी आदिवासी इसी प्रकार की जीवनयापन पद्धति अपनाए हुए हैं। कुछ लोग खानाबदोश हैं। ज्वांग जनजाति तो सांप तक खा जाती है। कोरवा कच्चा मास खाने के शौकीन हैं। "हो" जनजाति के बच्चों को शुरू से ही सिखाया जाता है कि वे शिकार करके ही अपना हिस्सा प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इस शिकार के पीछे कितनी जानें जाती हैं इसका अनुमान लगाना कठिन है।

चरवाहे आदिवासी · हिमालय तथा विन्ध्याचल की अनेक जनजातियां पशुपालन द्वारा जीवनयापन करती हैं। हिमालय की घाटियों में चरवाहों की बंशी जब पर्वत की गूंज बनती है तो लगता है उनके कठिन जीवन मे माधुर्य घुलता आ रहा है। यहा के गद्दी, भोटिया, किन्नर आदि भेड़-बकरी पालते हैं। इनमें से बहुत से लोग यायावरी जीवन व्यतीत करते हैं। उन्हें महीनो नहाने का अवसर भी नही मिलता, प्रकृति का सान्निध्य ही उन्हें स्वस्थ रखता है। इनकी समस्याएं भी अनेक हैं। भोटिया लोग ऊन तथा वस्त्रों का व्यापार करते हैं। चीनी आक्रमण से पूर्व इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी, ये चीन से ऊन आदि का व्यापार करते थे। नीलगिरि के टोडा लोग शुद्ध शाकाहारी हैं। वे गाय-भैंस पालकर अपना निर्वाह करते हैं। इन लोगो की जनसंख्या बहुपति प्रथा के कारण घटती जा रही थी; पर आजकल यह प्रथा लगभग समाप्त हो गई है अतः संख्या भी बढ़ती जा रही है।

गुज्जर तो पूर्णतः यायावर समाज है। यहा यह बात स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ये जनजातिया मुख्य रूप से पशुओं के सहारे ही गुजर-बसर करती हैं। अतः चरागाहो के अभाव मे उन्हें अपना घरबार छोड़कर अन्यत्र जाना पडता है। उनका सारा परिवार भी साथ रहता है। ऐसी स्थिति मे न तो उनके बच्चे नियमित रूप से शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं और न ही उनके परिवार सुख-शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

हिमाचल प्रदेश के पागी क्षेत्र में पंगवाल लोग पशुपालन करते हैं, लेकिन छः माह से भी अधिक समय तक वहा बर्फ जमी रहती है। अतः ऐसी दशा में केवल दो ही विकल्प रह जाते हैं। वे या तो अपना घरबार छोड़ कर दूर कहीं दूसरे प्रदेश में निकल जाएं अथवा रात-दिन लग कर इतना चारा एकत्र कर लें कि वह पशुओं के लिए साल भर तक पर्याप्त रहे। कैसी विडम्बना है आदिवासी जीवन की। गाधीजी कहा करते थे, "भारत गावो का देश है और गाव खेती पर आधारित हैं। अत· यदि गाव प्रगति करते हैं तो सारा देश उन्नति की ओर अग्रसर होता है।" यह बात आदिवासी समाज पर भी लागू होती है। जन-जातिया चाहे पशुपालक हो या खाद्य-संग्रहीता, एक स्थिति ऐसी आती है जब उन्हें कृषि का सहारा लेना ही पड़ता है। अनेक पशुपालक समाज कृषि-कार्य भी करते हैं। प्रमुख कृषक जनजातिया हैं—संथाल, उराव, मुण्डा, भील, गोंड, मझवार, खस, हो, कोरवा, गारो तथा खासी आदि। पहले कभी बिना हल–बैल के ही कृषि हो जाती थी, किन्तु अब यह अपवाद होता जा रहा है।

जनजातीय कृषि व्यवस्था का मुख्य रूप है—स्थानान्तरित कृषि। इसे झूम की खेती भी कहते हैं। कभी मानव कन्द-मूल खा कर तथा जंगली जानवरों के शिकार पर जीवनयापन करता था। कृषि व्यवस्था का जन्म आज से लगभग दस हजार वर्ष पूर्व नियोलिथिक काल में हुआ। विश्व के उष्ण तथा कुछ कम उष्ण प्रदेशों की जनजातियो में प्राय. सर्वत्र स्थानान्तरण कृषि की जाती है। असम की कुछ जातियो, जैसे भील, कोरकूज आदि में झूम की खेती आज भी आंशिक रूप में विद्यमान है। पहले लोग कुल्हाड़ी से जंगलों को काट देते हैं। फिर

पेड़-पौधों के सूख जाने पर आग लगा दी जाती है। यह कार्य गर्मियों मे सम्पन्न होता है। वर्षा शुरू होते ही वहां बीज बो दिया जाता है; आदिवासी फसल काट कर उस स्थान को छोड़, फिर किसी दूसरे जंगल में चले जाते हैं। इस तरह जंगल साफ होते रहते हैं और कृषि योग्य स्थानों का अभाव होने लगता है। वेरियर एल्विन ने इस पद्धति को कुल्हाड़ी कृषि (ऐक्स कल्टीवेशन) की संज्ञा दी है। बैगा लोग इसे वेवार, माड़िया पेंदा, गारो झूम, गोंड मालुवा, उड़ीसावासी गूदिया, पोडू या डोंगरचास कृषि पद्धति कहकर सम्बोधित करते हैं। इस पद्धति का मध्यप्रदेश के बस्तर जिले में बड़ा रिवाज था। 1867 तक सरकार जंगलों को जलाकर खेती करने की ओर ध्यान नहीं देती थी। किन्तु उसी वर्ष आदेश जारी हुए कि सरकारी अनुमति के बिना स्थानान्तरण कृषि नहीं की जा सकती। 1948 में देशी राज्यों के विलय के बाद जंगलात कानूनों में और भी परिवर्तन हुए। आज इस पद्धति को सुदूरस्थ जनजातियों को छोड़कर अन्य लोगों ने छोड़ दिया है। आज जो जनजातियां इस पद्धति को अपनाए हुए हैं, वे सामूहिक रूप से ही कृषि-कार्य करती हैं। वहां जमीन का वितरण जाति का मुखिया करता है, सरकार नहीं।

भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् के एक सर्वेक्षण से पता चला है कि 1956 में मध्यप्रदेश में लगभग 10 हजार एकड़ भूमि में स्थानान्तरण कृषि की जाती थी। इस कार्य में लगभग छ: हजार परिवार लगे हुए थे। इस प्रकार पूरे राज्य में पन्द्रह जनजातियों के तीस हजार व्यक्ति इस प्रणाली द्वारा जीवनयापन करते थे।

अंगामी प्रगामी नागाओं को जब झूम की खेती के दोषों का आभास हुआ तो उन्होंने स्थायी कृषि शुरू कर दी। फलस्वरूप उनकी आर्थिक स्थिति झूम-कृषि करने वाले सीमा नागाओं की अपेक्षा बहुत अच्छी हो गई। ये लोग अपने खेतों को खाद और पानी देकर लहलहाते हैं तथा अपेक्षाकृत अच्छा जीवन व्यतीत करते हैं। इसी प्रकार अन्य समाजों में भी स्थायी खेती का प्रचलन शुरू हुआ।

सूत कातना, वस्त्र बुनना, टोकरी बनाना, चटाई-बर्तन तथा अन्य घरेलू आवश्यकताओं की वस्तुओं का निर्माण-कार्य भी आदिवासी समाजों ने अपनाया। माड़िया गोंड वन्य-पदार्थों से स्प्रिट तैयार करते हैं तो गोंड लोग धातुशोधन, कताई-बुनाई, पात्र-निर्माण आदि कार्य करते हैं। थारू जनजाति वाद्य-यन्त्र बनाती है। अगरिया लोहे का काम करते हैं। कूर्मांचल प्रदेश की भोटिया स्त्रियां और इम्फाल की नागा महिलाएं डिजाइनदार वस्त्र तथा गलीचे आदि बनाती हैं। उल्लेखनीय है कि बिहार में लोहा एवं इस्पात उद्योग में अधिकांश मजदूर संथाल हैं जिनकी संख्या 18 हजार से अधिक है।

सुप्रसिद्ध नृ-वैज्ञानिक डा० घुरये ने आदिवासी समाज की समस्याओं के बारे मे टिप्पणी करते हुए लिखा है: "जनजातीय समस्याएं कुछ ऐसी हैं जो उन्हीं तक सीमित हैं जैसे नई आदतें, भाषा अथवा स्थानान्तरित कृषि। दूसरी समस्याएं ऐसी हैं जो ब्रिटिश शासन की लगान पद्धति और विधि-विधान से सम्बन्धित हैं।"

हमारे विचार में जनजातियों की समस्याएं अनेक प्रकार की हैं। स्पष्ट है कि जनजातियों को दुर्गम स्थानों में रहना पड़ता है। जंगलों, पहाड़ों तथा सुदूरवर्ती क्षेत्रों में रहने के कारण उनका बाहरी उन्नत समाजों के साथ सम्पर्क नहीं के बराबर रहता है। अतः जब वे अन्य समाजों के निकट सम्पर्क में आती हैं तो उनका शोषण भी बहुत होता है। प्रशासन में भी कुछ खामियां रहती हैं। कुछ संस्थाओं ने धर्म-परिवर्तन द्वारा उनके सांस्कृतिक मूल्यों पर आघात पहुंचाया है।

आर्थिक समस्या सभी समस्याओं का मूलाधार है। समाज का आर्थिक स्तर ऊंचा उठने से उसके अन्य स्तर भी ऊपर उठते जाते हैं। जनजातियों के सम्पर्क में जो भी तथाकथित सभ्य समाज आए उन्होंने उनका शोषण ही किया। व्यापारी लोगों ने ऊंचे दामों पर अपना माल बेचा तो साहूकारों ने रुपया उधार देकर हमेशा के लिए उन्हें अपने चंगुल में फंसा लिया। जौनसार बावर का कोल्टा पीढ़ी-दर-पीढ़ी यह कर्ज उतारता मर गया, लेकिन अजन्मे बच्चे फिर भी उसी कर्ज के भार से दबे रहे। यही हालत अन्य जनजातियों की भी है।

गुज्जर दम्पति

गद्दी महिला
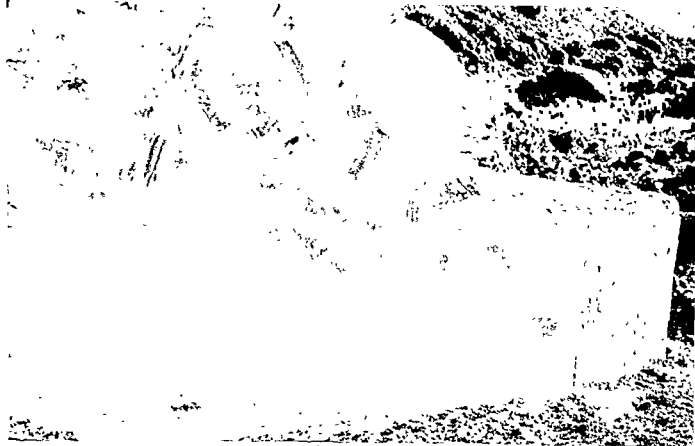
विराम के क्षण

लेखक हिमालय के यायावर परिवार के साथ प्रवास में

खड़ी चढ़ाई पार करती हुई गद्दिनें

घुमन्तू गुज्जर प्रवास में

गुज्जरों का डेरा

यायावर गुज्जरी

लेखक, यायावर गुज्जर परिवार के साथ

वन–विभाग के कर्मचारियों के प्रति आदिवासियों की शिकायतें भी कुछ कम नही है। मुझे भारत की अनेक वन्य-जातियों का अध्ययन करने का मौका मिला है। मैं जहा भी गया वहा लोगों ने जंगलो के उपयोग की बाधा का उल्लेख किया। उनके पशुओं को जंगलो में जाने से रोका गया। उनसे बेगार ली गई। ऐसा न करने पर उन्हे दण्डित भी किया गया।

स्थानान्तरित कृषि की समस्या का अन्त तो होता जा रहा है, लेकिन इस व्यवस्था के पीछे आदिवासियों के धार्मिक विश्वास भी जुड़े हुए हैं। वे झूम की खेती को ईश्वरीय इच्छा से जोड़ते हैं। अत: कोई भी परिवर्तन कानून द्वारा सम्भव नही है।

औद्योगिक श्रमिकों की समस्या और भी जटिल है। आदिवासी जब नगरो के सम्पर्क में पहली बार आते हैं तो वहा की चकाचौध से या तो घबरा जाते हैं या पथभ्रष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि शराब इनका प्रिय पेय बन गया और कई प्रकार की नैतिक बुराइया इनमे घर कर गई। बस्तर की मडिया जनजाति एक ऐसा ही समाज है जहा लोगो मे घोटुल प्रथा प्रचलित है। वहा यौन-स्वच्छन्दता है। अविवाहित लडके-लडकियो को एक ही कमरे में सोना पडता है। यद्यपि यह यौन–शिक्षा का ही एक अंग है, तथापि बाहर के लोग उस पद्धति का गलत अर्थ लगाते हैं। आदिवासी इलाको में घटी ऐसी कई घटनाओ में बाहर के लोग दोषी पाए गए है।

अस्पतालो और शिक्षालयो के अभाव के अतिरिक्त अन्य कई समस्याए आज भी आदिवासियों को घेरे हुए हैं।

प्रो० श्यामाचरण दुबे तथा अन्य समाजशास्त्रियो के अध्ययन एवं लेखक के निजी अनुभव के आधार पर इन समस्याओ का समाधान इस प्रकार खोजा जा सकता है :

. आदिवासियो के सामाजिक संगठन और मूल्यों का अध्ययन किया जाए।

. विभिन्न प्राविधिक, आर्थिक, सास्कृतिक विकास के धरातलों पर उनकी विविध समस्याओ का सूक्ष्म अध्ययन किया जाए।

. आर्थिक स्तर ऊचा करने के लिए हरित क्राति, औद्योगिक विकास, पशुपालन तथा अन्य स्थानीय उद्योग-धन्धो मे उन्हें भरसक सहयोग दिया जाए।

. आदिवासी क्षेत्रों मे काम करने वाले कर्मचारियो को उनकी संस्कृति से परिचित कराने के लिए विशेष प्रशिक्षण देना उपयुक्त होगा।

. आदिवासियो के सहज परिवर्तनशील पक्षो का विश्लेषण किया जाए।

. आदिवासियों के रीति-रिवाजों की आलोचना करने की अपेक्षा उनके हृदय को जीतने के लिए विभिन्न कदम उठाए जाए। मानवीय दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर बहूद्देशीय योजनाएं चलानी चाहिए।

हर्ष का विषय है कि आज आदिवासी कल्याण में जहा बनवासी सेवा मडल तथा भारतीय आदिम जाति सेवक संघ जैसी स्वैच्छिक संस्थाए लगी हुई है वहा भारत सरकार ने भी उनके कल्याण के लिए अनेक कदम उठाए हैं, विकास के लिए अनेक बहूद्देशीय खण्डो का निर्माण किया गया है। अनेक गावो में कुटीर उद्योगो के लिए केन्द्र खोले गए है तथा शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए उनके बच्चों को छात्रवृत्ति आदि के रूप में अनेक सुविधाएं दी जा रही हैं।

क्या हिमालय के खानाबदोश भी कुछ बदले हैं ? क्या उनमें भी जागृति का सूत्रपात हुआ है? आइए, इस समाज का भी परिचय अगले अध्यायो में प्राप्त कर ले।

3

शोध-यात्रा : एक संस्मरण

योरोप के महान नृवैज्ञानिक वेरियर एल्विन जब अपनी मातृभूमि इंग्लैंड छोड़कर भारत आए और यहां की आदिम जातियों का अध्ययन करते समय एक गोंड बाला के प्रणय-सूत्र में बंध गए तो भारतीय नृविज्ञान में न केवल एक नए अध्याय का सूत्रपात हुआ बल्कि यहां की आदिम जातियों में स्वतन्त्रता-आन्दोलन के प्रति भी जिज्ञासा उत्पन्न हुई। आक्सफोर्ड के स्नातक जब गांधीजी के सम्पर्क में आए तो अंग्रेजी शासकों के मन में भी कुछ शंकाएं पैदा हुई थी, किन्तु वैज्ञानिक पहले ज्ञानार्थी है, फिर कुछ और। एल्विन अपने कार्य-क्षेत्र से जूझते रहे–स्वतन्त्रता–प्राप्ति से पूर्व और बाद में भी। उन्होंने कहा था–"हमें आदिम जातियों का अध्ययन उन्हीं की सम्कृति के परिप्रेक्ष्य में करना चाहिए, विज्ञान की चकाचौंध में फूलते-फलते समाजों के दृष्टिकोण से नहीं।" उन्होंने भारत की अनेक जनजातियों के विषय में लिखा। बहुपति प्रथा अपनाने वाली जनजाति हो या बहुपत्नी वाला समाज, नरबलि देने वाले भील हों या नरभक्षी नागा, घोटुल जैसी प्रणय-संस्थाओं के जन्मदाता मुड़िया हों या अपहरण विवाह को वैध मानने वाले किन्नर, एल्विन के अध्ययन क्षेत्र में ये सभी समाज जुड़ते गए।

वेरियर एल्विन से ही प्रेरणा पाकर मैंने बीस वर्ष पहले अपने शोध-कार्य के लिए चीन-सीमा के निकटतस्थ हिमालय का दुर्लंघ्य प्रदेश चुना था। इस कार्य में सैकड़ों किलोमीटर का पैदल रास्ता भी तय करना था और गद्दियों के प्रमुख आवास-स्थल भरमौर* पहुंच कर न केवल नृ-विज्ञान को कुछ देना था, बल्कि समाज-कल्याण एवं रक्षा सम्बन्धी योजनाओं में भी कुछ योगदान करने की इच्छा थी।

वह मेरी प्रथम रोमांचकारी शोध-यात्रा थी। दिल्ली से कश्मीर-मेल पकड़ी। गाड़ी रात भर चलती रही और मेरा मन सृजन के नए पथ पर था।

गाड़ी से बाहर झांका। नीरवता का एकछत्र शासन था। पूर्णिमा की चांदनी अनुपम आभा बिखेर रही थी। पेड़-पौधे भागते नजर आ रहे थे, ठीक उसी तरह जैसे चौकड़ी भरते वन्य हरिण। क्या चांद पर भी तेजी में ऐसी ही रेलगाड़ियां चल सकेंगी? वहां तो समुन्दर और पहाड़ियों का दृश्य और भी लुभावना लगेगा और पेड़-पौधे इससे भी तेज दौड़ते दीखेंगे। उस समय आदमी चांद पर नहीं पहुंचा था। मेरे मन में यह धारणा बन

---

* भरमौर हिमाचल प्रदेश के चम्बा जिले का प्रमुख स्थान है। यह आज से 20 वर्ष पूर्व की यात्रा का वर्णन है। आज तो काफी परिवर्तन हो गए हैं। –ले०

गई होगी। वस्तुतः वहा तो भौगोलिक-वातावरण तक नहीं, फिर ऐसी गाड़ियों का चला सकना कोरी कल्पना ही सिद्ध हुआ। मेरी कल्पनाओं पर पूनम का चांद बहुत दूर खड़ा मुस्करा रहा था और पृथ्वी के वैज्ञानिक को अपना मायावी रूप दिखाकर छल रहा था।

मेरे आत्मीयों ने कहा था—भरमौर के खनी वाले रास्ते की खतरनाक सीधी चढाई से मत जाना। धर्मदेव शास्त्री (तत्कालीन मंत्री, भारतीय आदिम जाति सेवक संघ) जब ढेवर भाई के साथ उधर गए थे तो मरने से बाल-बाल बचे थे।

और मैं सब कुछ छोडकर चल पड़ा था। एक अनजाने पथ पर, एक सुनसान डगर पर, जहां कुछ दूर तक रेलें थी, पहाडी बसें या आसमान को छूती हुई चोटिया। हिमालय की गोद में बहती हुई रावी का रौद्र रूप और अनेक हिंस्र पशु, जहरीले साप और पहाड़ी बिच्छू।

एक ही लक्ष्य था—चीन के साथ लगने वाले उस भारतीय प्रदेश की जनजातियों का सहभागिक अवलोकन, सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण एवं गहन नृ-वैज्ञानिक अध्ययन। यहा तब केवल कठिनाइया ही कठिनाइयां थी। (आज भी हैं पर उन दिनों जैसी नही)

मुझे स्मरण है जब मैं अशोक आश्रम, देहरादून, में मासिक-पत्रिका "हिमालय" का सम्पादन करता था तो कई कौतूहल उठा करते थे। मैं इच्छा होते हुए भी दुर्गम स्थलों की यात्रा नही कर सका था और मेरे अन्दर का समाज-वैज्ञानिक बस छटपटा कर रह जाता था।

अब मैं सम्पादक नही हूं, एक अनुसंधित्सु हूं समाज नृ-विज्ञान का, इसलिए मुझे न डेस्क का भय है और न प्रिंट आर्डर देने का। कैसा विचित्र अनुभव है यह। वह मेरा समाज नही। उसके रीति-रिवाज बिल्कुल भिन्न। उसका खान-पान मुझ जैसे वैष्णव प्रकृति के व्यक्ति से बिल्कुल विपरीत। पहले कभी पहाड़ पर चढने का साहस तक न हुआ था। मैदान का रहने वाला एक सामान्य व्यक्ति। कई मीठे-कड़ुवे अनुभवो से व्याप्त चित्र उभरते जा रहे थे—एक चित्रपट की गूगी तस्वीरों की तरह। और अब मुकेरिया आ गया था।

रेल अथवा बस की यात्राओं में पुस्तकों को पढ़ने की मेरी रुचि सदैव से ही रही है। कविताएं भी खूब लिखी हैं। प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण के लिए इतना समय शायद पहले कभी नही मिला था। पठानकोट की ओर बढती हुई गाड़ी मुझे सुमित्रानन्दन पन्त की छायावादी रचनाओ की ओर खीच ले गई:

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल-जाल में—
कैसे उलझा दूं लोचन
भूल अभी से इस जग को।

और रात्रि का वह मनोहर रूप प्रसाद की पगली विभावरी के बारे में भी कुछ स्मृतियां सजग कर गया:

पगली हां संभाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल
देख बिखरती मणिराजी
उठा अरी, बेसुध चंचल।

मैं अपने कवि-हृदय को बरबस दबा कर पुनः गजेटियरों में पढी गद्दी बोली को दुहराने लगा। मेरे मन में अचानक एक नया विचार आया। मेरी प्रश्नावली अधूरी है, क्योंकि मैंने उसमें एक महत्वपूर्ण प्रश्न छोड़ दिया है

और वह था रेलों के बारे में आदिवासियों की जानकारी। मैंने यह प्रश्न भी जोड़ दिया :

> क्या आपने रेलें देखी हैं? यदि हां, तो अपने कुछ अनुभव सुनाइए। यदि नहीं, तो आपकी कल्पना में रेल क्या चीज है?

पठानकोट तक पहुंचते न पहुंचते न जाने कितनी स्मृतियों ने मुझे आकर झकझोरा था। वास्तव में अकेलापन मुझे बड़ा पसन्द है। लोग कहते हैं कि अकेला व्यक्ति यात्रा करते समय बोर हो जाता है। यात्रा ही नहीं, महानगरों में रहने वाला व्यक्ति यदि मित्र-मंडली में नहीं घूमता तो उसका जीवन भी दूभर हो जाता है। पर मुझे इस प्रकार के वातावरण ने शायद ही कभी आकर्षित किया हो।

रेल-यात्रा की समाप्ति पठानकोट-दिल्ली से लगभग तीन सौ किलोमीटर दूर, मेरे गन्तव्य का पहला पड़ाव और उसके बाद लगभग 90 किलोमीटर की बस द्वारा पहाड़ी यात्रा। प्रत्येक मोड़ पर लगता था कि बस आगे नहीं जा पाएगी और हम किसी घाटी में सदा के लिए सो जाएंगे। हिमालय की विशाल दरारों को चीरती, कच्चे पहाड़ की चोटियों को रौंदती तथा प्रकृति को चुनौती देती हुई यह पहाड़ी बस चम्बा ले जाती है। मेरे जीवन का एक निराला अनुभव।

एक सप्ताह चम्बा और उसके आसपास के क्षेत्र में यायावर की तरह घूमता रहा। हिमाचल प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमन्त्री डा॰ यशवन्त सिंह परमार उस दिन हिमाचल-दिवस का उद्घाटन करने के लिए चम्बा पधारे थे। पत्र द्वारा पहले से परिचय था, किन्तु यहां उनसे साक्षात भेंट हुई और उनके सहयोग का आश्वासन लेकर भरमौर की ओर चल पड़ा।

मेरे कानों में कोई अनुगूंज हुई—"खनीवाले रास्ते से मत जाना।" लेकिन फिर कौन से रास्ते से चलूं? धार का कच्चा पहाड़ तो दोनों ही रास्तों में आता है। आखिर मेरे संकल्प ने बल पकड़ा और खतरनाक चढ़ाई के पथ पर चल पड़ा।

मेरे साथ एक पर्वतीय अध्यापक थे। कैमरा, कुछ चाकलेट और आदिवासियों के लिए सिगरेट आदि-आदि। मैं रेपर्ट पहले ही स्थापित कर चुका था। इस यात्रा का वर्णन स्वयं में एक पुस्तक का विषय है, अतः उसके पन्ने यहां खोलना उपयुक्त नहीं लगता। हां, खनी की चढ़ाई के वर्णन का लोभ संवरण नहीं हो पा रहा।

भरमौर से लगभग ढाई किलोमीटर पहले यह कच्चा पहाड़ यमदूत सा खड़ा हुआ मिलता है। वर्ष में कुछ यात्री उसकी बलि-वेदी पर चढ़े बिना नहीं रहते। ऊपर से शिलास्खलन द्वारा या तो वह यात्रियों को समूचा निगल जाता है या पत्थरों द्वारा प्रहार कर उनका अंग-भंग कर देता है। जिस समय मैं वहां पहुंचा, मुझे भी एक भय-मिश्रित आशंका हुई, किन्तु दूसरे ही क्षण मैंने शिव का स्मरण किया। यह शिव भूमि है और मैं स्वयं एक कल्याण-कार्य के लिए यह विकट यात्रा तय कर रहा हूं, अत: शिव अवश्य रक्षा करेंगे (एक विचार)।

मुझे सचमुच यह देखकर आश्चर्य हुआ कि मौसम खराब होने के बावजूद धार के पहाड़ ने मुझे कुछ नहीं कहा। मैं वहां कुछ देर बैठा और फिर आगे चल पड़ा। कैसा रोमांचकारी अनुभव था वह। भरमौर पहुंच कर पता लगा कि उसी दिन धार के पहाड़ ने दो गद्दियों की जान ले ली थी।

रास्ते में एक यायावर गद्दी से पूछा, "क्या आपने रेल-यात्रा की है?"

वह बोला, "नहीं।"

तभी एक युवक बोला, "हां, हां, मैंने की है।"

वह फिर बोला, "एक बार हमारी नृत्य–मंडली दिल्ली पहुंची तो पठानकोट में सवार होने पर हमें लगा जैसे हमारे ऊपर जादू कर दिया गया है और काली देवी हमें बलि का बकरा बनाना चाहती है।"

एक तीसरा यायावर बोला, "रेल सचमुच हमें वरदान दिखाई पड़ी। यदि रेल न होती तो हम लाल किला सात जन्म लेकर भी न देख पाते।"

बुजुर्गों ने बड़े अजीबोगरीब उत्तर दिए। एक नब्बे वर्षीय वृद्ध बोला, "रेल हमने न सुनी और न कभी देखी है। क्या यह कोई भेड जैसा जानवर होता है, बाबूजी?"

एक पचासी वर्षीय गद्दी ने कहा, "अच्छा, अब समझ में आया। बाबूजी, तुम कहते हो वह धरती पर दौडती है तो वह जरूर घोडामशीन होगी। हमारे घोड़े तो पहाड पर दौडते हैं। तुम्हारी रेल जमीन पर दौड़ती होगी।"

और मैं इन प्रश्नों के उत्तरों को अपने शोध-ग्रन्थ के लिए सुरक्षित कर अनुसधान-पथ पर बढता गया।

4

यायावर गद्दी

गोरी दा चित्त लगा चम्बे दिया धारां
चम्बे दिया धारा पौण फुहारा
घर-घर मौज बहारां
गोरी दा चित्त लगा चम्बे दिया धारां
घर-घर टिकलू, घर-घर बिन्दलू
घर-घर बांकियां नारां

(हिमाचल का एक लोकगीत)

हिमाचल प्रदेश की मनोहारी पर्वत श्रेणियों में किसका मन नही अटकेगा। गोरी बांकी नारियो का क्रीड़ा-स्थल, सैलानियों का स्वर्ग नही तो और क्या है? शिवजी भी शायद प्राकृतिक सौन्दर्य से खिंचकर यहा धूनी रमा बैठे थे। कालिदास ने यहा की किन्नरियो की सुन्दरता को खूब सराहा था। वहां हवा के झोंको से जब सूखे बांस बजते है, सुन्दरिया उनके स्वर के साथ स्वर मिलाती हैं। शिव की त्रिपुर–विजय के उपलक्ष्य में झूम-झूम कर नाचती-गाती हैं। यहा की किन्नरियां ही नही, बल्कि गद्दी तथा गुज्जर स्त्रियां भी सौन्दर्य की धनी समझी जाती हैं। हिमालय में फूलो-फलो से लदे वृक्ष, कल-कल करते झरने और रंग-बिरंगे पक्षियों के कर्ण-प्रिय स्वर मन को मोह लेते हैं।

विदेशियों ने चम्बा के प्राकृतिक दृश्यो की बहुत प्रशंसा की है। हरमन गोएट्ज ने इसे भारत का "स्विट्जरलैण्ड" कहा है। वह यहा के मन्दिरों के कला-शिल्प पर बड़ा मुग्ध था। वास्तव मे हिमाचल प्रदेश हिमालय के अन्य क्षेत्रों की भाति विभिन्न प्रजातियो, सस्कृतियो, धर्म, तथा कलाओं का आश्रय-स्थल रहा है। चीन से सटे तथा पश्चिमी पाकिस्तान के समीपस्थ हिमाचल की भौगोलिक स्थिति बड़ी नाजुक है। इस सीमावर्ती राज्य को कुछ वर्ष पूर्व पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त हुआ है। इससे जहा विकास के लिए नए आयाम खुले हैं, वहा कुछ नई चुनौतियां भी उभरी हैं।

25 जनवरी, 1971 को हिमाचल प्रदेश को भारत का 18 वा राज्य घोषित किया गया। इसका क्षेत्रफल 55, 673 वर्ग किलोमीटर है। 1981 की जनगणना के आधार पर यहा की जनसंख्या 42,80,818 है। इनमें जन-जातियो की संख्या 1,97,263 है। यह प्रदेश क्षेत्रफल की दृष्टि से केरल, नागालैंड, हरियाणा तथा पंजाब राज्यों से बड़ा है। प्राकृतिक सम्पदा की यहा कमी नही है।

मैं सामने धौलाधार पर पड रही धूप को बार-बार देखता हूं और कल्पनातीत आनन्द को इन शब्दों मे बाध लेता हूं :

नागराज के विशाल वक्षस्थल पर
यह कौन (धौलाधार की धूप)
लिपट गई
सूर्य को छोड़ कर
रास्ता भटक गई
यहां तो अभी-अभी
देवदार पहरा दे रहे थे
अरण्य रानी की रक्षार्थ
शस्त्र लिए खड़े थे
लेकिन यह क्या हुआ
अरण्य की नगरी पर
धूप का शासन हुआ।

और तभी मुझे सामने से कुछ खानाबदोश गद्दियों के स्वर सुनाई पड़ने लगते है :

चम्बे रा देश प्यारा, हो मेरा चम्बे रा देश प्यारा।
एक, एक नालू ते दो, दो कुवालू, आयो दो, दो कुवालू...
डंगरां चरांदे न दो, दो गुवालू, ओय दो, दो गुवालू...
बोल नी बोल प्यारा हो मेरा चम्बे रा देश प्यारा।
डूंगी, डूंगी नदियां ते सेली, सेली धारा, ओय सेली...
सोणे, सोणे गबरू ते बांकियां नारां, ओये बांकिया...
बोल नी बोल प्यारा हो, मेरा चम्बे रा देश प्यारा।
चिव-चिव, चिव-चिव चिड़वा चुगें दे, होय चिड़वा...
उड़-उड़, उड़-उड़ डाली बौंदे, ओये डाली...
बोल नी बोल प्यारा हो मेरा चम्बे रा देश प्यारा ।
सुइयां ते मिजरा रे मेले जो लगदे, होय...
जगा, जगा भाणु रे हार जो सजदे, होय
बोल नी बोल प्यारा हो मेरा चम्बे रा देश प्यारा।
राजेरे मौहले दी शोभा निराली, ओये शोभा
फूलां नू पाणी सिंचदा माली, ओय सिंचदा...
बोलनी बोल प्यारा हो मेरा चम्बे रा देश प्यारा।
ऊंचे-ऊंचे पहाड़ च बर्फ चमकदेये, ओस बर्फ चमकदेये
बोल नी बोल प्यारा हो मेरा चम्बे रा देश प्यारा।

इस लोकगीत में चम्बा शहर की विशेषताओं का वर्णन है। पहाड का घुमन्तू चम्बा क्षेत्र से बेहद प्यार करता है और उसके रोम-रोम में चम्बा की जलवायु समा गई है। वह अपने पशुओ, अपनी नदियो और घाटियो से बतियाता है। वस्तुतः अपना क्षेत्र उसे प्राणो से भी प्यारा है।

मै शोध-पथ पर आगे बढता हूं । यायावर गद्दियों के काफिले मिलने लगते है। चर्चा-परिचर्चाएं उभरती हैं। अनुसंधान की नई पद्धतियों का सहारा लेता हूँ।

"कौन कहता है कि साल के छः महीने अपना घर छोडकर खानाबदोशो की तरह भटका जाए ? कौन कहता है कि यायावरी हमारा जातिगत स्वभाव है? शिवजी पेट न बनाता तो हम कभी अपने प्यारे-प्यारे घरो को छोड़कर जीवन को इस तरह अस्थिर न बनाते।" ये शब्द हैं, छतरा गांव की प्रेमी गद्दन के, जो मुझे अपनी समाज-नृवैज्ञानिक भेटवार्ता के समय सुनने को मिले।

गद्दी एक अर्ध-यायावर, अर्ध-कृषक तथा अर्ध-पशुपालक जनजाति है। यह आधा वर्ष प्रवास में बिताती है और आधा वर्ष घर पर रह कर कृषि-कार्य करती है । भेड़-बकरी पालना इसका दूसरा मुख्य धंधा है। जहा तक भरमौर (चम्बा) इलाके का सम्बन्ध है, वहां दूध बहुत ही कम देखने को मिलता है, कारण कि भैंस पालने के लिए यहा की जलवायु बिल्कुल ही उपयुक्त नही, साथ ही गाएं भी दुबली और कम दूध देने वाली होती हैं। भेड-बकरिया कछारो पर रहती हैं इसलिए उनके दूध का भी पूरी तरह उपयोग नही हो पाता। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि बहुत से लोग दूध के अभाव में बिना दूध की गुड की चाय पीकर ही रह जाते हैं। समझ में नही आता, यहा दूध की नदियां कहां और कब बहती रही होंगी, जैसा कि कुछ लोगो ने लिखा है।

गद्दी लोग अक्तूबर में अपना घर-बार छोड़कर निचली पहाड़ियो की ओर चल पड़ते है। कागडा, नूरपुर पठानकोट तथा जम्मू आदि स्थानो पर शीतकाल के छ महीने चारे की खोज मे व्यतीत कर देते हैं। अप्रैल शुरू होते ही ये अपने घरो की ओर लौटने लगते हैं। इनका जीवन कितना कठोर और दूभर है, इसका अनुमान इनके साथ प्रवास में रहकर ही लगाया जा सकता है। मैंने महीनो तक प्रवास में इनके साथ रहकर सहभागिक अवलोकन किया है। मुझे भी शुरू मे इनका प्राकृतिक जीवन बडा शात और उन्मुक्त लगा था, लेकिन तीन सौ गद्दी परिवारो के अध्ययन से मेरी यह धारणा खंडित हो गई । भेटवार्ताओ मे उनकी विवश जिन्दगी विडम्बनाओं का अंबार लिए हुए दिखाई पडी। वास्तव मे उनके प्रवास का कारण भोगोलिक परिस्थितिया तथा आय की अनिश्चितताएं ही बन जाती हैं।

गद्दी समाज के जनमत सग्रह के समय हमें कुछ रोचक सामग्री उपलब्ध हुई । हमारे प्रश्न—क्या आपको खानाबदोशी की जिन्दगी वास्तव में अच्छी लगती है? —के उत्तर में 92 प्रतिशत लोगो ने असहमति प्रकट की और कहा कि उन्हे लाचार होकर यह जीवन व्यतीत करना पडता है। दुर्गम घाटियो की चढाइया, प्राकृतिक प्रकोप, अन्य लोगों से समजन का अभाव तथा बच्चो की शिक्षा में व्यवधान आदि अनेक कारण हैं, जिनसे यह यायावरी जीवन अभिशाप बन जाता है। आठ प्रतिशत लोग ऐसे थे, जिन्होंने भेड-बकरियो के लिए चारे की तलाश, अपने लिए रोजगार ढूढने तथा सर्दी से बचने के लिए घर-बार को छोडना उचित समझा। स्पष्ट है कि इस घुमन्तू जीवन के पीछे कैसी-कैसी विवशताएं हैं। यहा गद्दियों द्वारा खानाबदोशी जीवन अपनाने के कारण दिए जाते हैं :

1. शरद ऋतु में भरमौर मे उनके रेवडो के लिए चारा उपलब्ध न हो पाना।
2. भेड-बकरियो के लिए बर्फ का मौसम उपयुक्त न रहना।
3. खाद्यान्न के अभाव के कारण घर-द्वार छोडना क्योंकि इलाके में अच्छी पैदावार नही होती।
4. यहा मौसमी रोजगारो की कमी है।
5. कुछ लोगो की कागड़ा मे जमीन होना तथा वहा जाकर फसले बोना और काटना।

खड़ी चढ़ाई पार करता हुआ एक यायावर

मायावरी

अर्द्ध-यायावर गद्दिन

भरमौर के मन्दिरों में

6. सदियों में भूस्खलन के कारण इस स्थान पर उचित मात्रा में अनाज का भेजना अशक्य हो जाना।

7. कुगती जैसे स्थानों में अत्यधिक वर्फ का गिरना जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है ।

8. अन्य भौगोलिक परिस्थितिया ।

सदियों से यायावरी जीवन बिताने के बाद क्या इनकी अभिवृत्तियो मे कोई परिवर्तन हुआ है, इसके लिए हम चम्बा और उसके आस-पास बसे गांवों पर दृष्टिपात करते हैं तो लगता है कि मानव सदा से परिवर्तनशील रहा है। उसने जीवन को कठिन से सरल बनाने का अनवरत प्रयास किया है तथा सफलता मिलने पर उसने पुरातनता की केंचुली उतारने में भी ननुनच नही किया है । गद्दी कबीले के जो लोग वर्षो पूर्व इन ग्रामों में आकर बस गए थे, उनके जीवन का स्वरूप ही बदल गया है।

हा, गद्दियो का प्रवासी जीवन आज भी कष्टों और संघर्षो से भरा है । एक लोकगीत की पंक्तिया देखिए :

औक्खां पहाड़ां रा जीणा ।
जिंदे, औक्खां पहाड़ां रा जीणा ।
फट्टि गए कपड़े छन्न पुराणे,
पारे-पारे बदलू तां बारे-बारे पाणी ।
चौड़े मन्भु किहियां सौरणा,
जिंदे, औक्खां पहाड़ां रा जीणा ।

लाड़ा (पति) अपनी लाड़ी (पत्नी) से पहाडी जीवन की कठिनाइयों के बारे में कह रहा है "प्रिये, यहा का जीवन कितना खराव है। न पहनने को अच्छे वस्त्र हैं और न ही रहने के लिए अच्छा मकान..."

कुकड़ी री रोटी अहणी रा साग,
ओ बी मिली जायें तां धन-धन भाग।

इन शब्दों में पेट की ज्वाला धधक रही है। बेचारा गद्दी मक्का की रोटी और अहण का साग खाकर ही अपने आपको सौभाग्यशाली मानने लगता है। एक हृदयद्रावक चित्र उभरता है जिसे मैदान के सैलानी नही अहसासते ।

लेखक ने इसी पृष्ठभूमि पर आधारित एक मौलिक रचना की थी जो स्थिति को और स्पष्ट करती है.

जवानी में बुढ़ियाई
एक यायावर किरण
उ
त
र
रही है धीरे......धी......रे
धौलाधार[1] की
पहाड़ियों से
आदिवासिन घुमन्तू गद्दिन की भांति
कंटीले
पथरीले

1. हिमाचल प्रदेश का एक ऊँचा बर्फानी पहाड ।

बरफीले
पर्यों ने
जख्म कर दिये हैं उसके पांवों में
सदियों से इन घाटियों से गुजरते
सूरज की किरण और पहाड़ की नारी के पांव
अब कांटों की चुभन नहीं अहसासते
सूरज खानाबदोश चरवाहे-सा
लं........ग........ड़ा........ता........
अस्ताचल की ओर चला जा रहा है
मैं खड़ामुख[2] के पुल पर खड़ा
रावी के पानी को निहार रहा हूं
पानी का रंग लाल हो उठा है
लगता है--
भारी भरकम बोझा ढोते
कितने ही युगलों के घायल पांव
इससे गुजरे हैं
जंगल के गुमनाम गुलाब
मुरझा कर झड़ गए हैं।
या कोई मेमना गुगादेय[3] की
बलि चढ़ गया है
कैसे कहूं कि
इस लाली में यहां का
अप्रतिम सौन्दर्य भी घुल गया है

× × ×

काफिलों पर काफिले गुजरते जा रहे हैं
मिमियाती बकरियां.... मैं मैं करती भेड़ें....मेमने
रंभाती गायें, भौंकते कुत्ते
और फिर पूरी गृहस्थी कमर पर लादे
मानव-
आदिवासी मानव-
बूढ़े-बच्चे-स्त्री-पुरुष
लगता है मानव और पशु एक हो गए हैं
सब एक हो गए हैं
आदिवासी की कमर ऊनी डोरे ने पकड़ी है
जादू-टोने ने उसकी देह ही नहीं

2. भरमौर मार्ग का एक पुल।
3 एक जनदेवता जो सांप के काटे का इलाज करता है।

समूची जिन्दगी जकड़ी है
इस सैकड़ों गज लम्बे ऊनी डोरे में एक
दर्द कैद है। डोरा खुलते ही यह पेट में
पहुंच जाता है–ओह कैसी विडम्बना है।
पहाड़ की एक कन्दरा
मच्चों की बीनी कुछ लकड़ियां...पत्तों या घास की आग
चकमक[4] आज भी यहां की माचिस है
मक्का ऐंण का साग या जंगली कन्दमूल,
नमक की चाय, अदरक का स्वाद जानते
अल्युमीनियम के पात्रों में––
खौलता घास का पानी
हलक पार कर जाता है
भूखा पेट कहीं जीभ पहचानता है
पहाड़ की खड़ी चढ़ाई का तरबतर पसीना
रात को बर्फ बन जाता है
नभ की छत तले
एक लबादा गठरी बन जाता है
और मैं इस गठरी में
आज के मानव को तलाशने लगता हूं
पुल के इस पार से उस पार तक
चौकड़ी भरता हूं
दूर किसी काफिले से
एक आवाज आती है–
बंशी की धुन में लोकगीत की कड़ी गूंजती है
औक्खां पहाड़ां रा जीणा
फट्टि गए कपड़े छन्न पुराणी
पारे-पारे बदलू तां बारे-बारे पाणी
चौड़े मन्भु किहियां सौरणा
जिन्दे, औक्खां पहाड़ां रा जीणा

(शिलानगर से)

इस यायावरी जीवन की मर्मस्पर्शी झाकी प्रस्तुत करता है एक अन्य लोकगीत :

हो श्रुटी मेरे छिकण री
काछी वो बेरीया, भालें हो
तथा
हो बुरा बेहुंदा भट्टिया रा रैहणा
वो बेरीया, भालें हो।

---

4. जिसे "शिव की सेली" कहते हैं।

हो बुरा हुंदा जाघरा रा जीणा
वो बैरीया, भालेया।

नव-विवाहित दम्पति प्रवास के कष्टों को झेल रहा है। पति को संबोधित करती हुई नववधू कहती है-"मेरे इस बोझ की रस्सी टूट गई है, जरा रुक जा", और गीत के अन्त में अपने घुमक्कड़ जीवन के प्रति दुःख प्रकट करती हुई कहती है-"भटियाल प्रवास का यह शरद तो बुरा है ही, साथ ही उससे भी अधिक बुरा है यह यायावरी जीवन, जिसमें कष्ट-ही-कष्ट उठाने पड़ते हैं।"

यह तो हुई सामान्य प्रवास की कठिनाइयां। अब जरा उस बेचारे "पुहाल" और "मुलंडी" की ओर भी निहारिए, जो छ. महीने की कौन कहे, प्रायः पूरा वर्ष ही घर से बाहर बिताता है। यह गद्दी-पुहाल अल्युमीनियम के कुछ हल्के बर्तन और लोहे का एक हल्का तवा अपने साथ रखता है। खलड़ू में कुछ आटा तथा अन्य आवश्यक सामान बांधे एक हाथ में हुक्का तथा दूसरे में बांसुरी संभालता हुआ यह प्रकृति-पुरुष दुर्गम पहाड़ियों को पार करता जाता है। वह अपने साथ फालतू कपड़े या सामान नहीं लाता। उसका चोला (एक प्रकार का ढीला कोट) कुछ नवजात मेमनों से भरा रहता है जो में-में करते हुए धौलाधार की नीरवता भंग करते रहते हैं।

प्रवास में गद्दी-पुहाल जैसा मोटा वस्त्र पहनता है, वैसे ही मोटा खाना भी खाता है। मक्का की रोटी और मसूर की दाल या कोई जंगली साग-भाजी उसकी भूख को मिटाने के लिए पर्याप्त है। एक दिन में वह 8-9 किलोमीटर से अधिक की यात्रा करना उचित नहीं समझता। उसके पास न कोई तम्बू होता है और न कोई छाता, अतः रात में किसी वृक्ष की छाया या किसी कंदरा में घुस कर सो जाता है। यदि ये दोनों चीजें दूर हों तो अपनी भेड़ों के बीच गठरी बन कर खर्राटे भरने लगता है। दूर से देखने से लगता है मानो वह भी रेवड़ का ही एक अंग है, जो उनके साथ उन्मुक्त आकाश तले सो रहा है जहां जमीन ही उसका बिस्तर है, और डोरा (पचास मीटर लम्बा ऊनी रस्सा) उसका तकिया।

गद्दियों की वेशभूषा में डोरा बड़ी विचित्र चीज है। इसे बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब पहनते हैं। हमने उसके वजन तथा नाप का औसत निकाला है जो इस प्रकार है:

	लम्बाई	वजन
पुरुष	30 मीटर से 50 मीटर तक	2 किलो
स्त्री	20 मीटर से 30 मीटर तक	1½ किलो
बच्चे	5 मीटर से 10 मीटर तक	½ किलो से 1 किलो तक

इसे धारण करने के सम्बन्ध में उनकी दलीलें हैं:

1. इसे पहनने से वे सामान आसानी से उठा सकते हैं।
2. इसे पहन कर वे चुस्त रहते हैं।
3. पहाड़ पर चढ़ने में सुविधाजनक लगता है।
4. रस्से में हुक्का तथा दाती आदि भी खोंस लेते हैं।
5. यदि इसे न पहनें तो पेट में दर्द हो जाएगा।
6. यह शिवजी की सेली कहलाता है। अतः इसे पहनना शिवजी की इच्छा का स्वागत करना है।
7. यह सामान बांधने के काम आता है।
8. यह तकिए का भी काम देता है।

गद्दियों के कुत्ते बडे खूंखार होते हैं। पुहाल और उसके रेवड़ की रक्षा ये कुत्ते ही करते हैं। बिना मालिक की आज्ञा के कोई अजनबी रेवड़ मे नही आ सकता। वे भालू व तेंदुआ आदि से भी भिड़ कर अपने मालिक तथा रेवड़ की रक्षा करते हैं। गद्दी इन कुत्तों को पालने के बडे शौकीन होते हैं और इन्हें आसानी से बेचते नही हैं।

मुलंडी या पुहाल देवी-देवताओं को खुश करने के लिए बलि-प्रथा का सहारा लेता है। कठिन तथा दुर्गम घाटियों और दर्रो पर वह भेड या बकरी काट कर देवता को खुश करता है।

गद्दी पुहाल को नहाने–धोने का कोई समय नही मिलता। अत. वह प्राय सारा वर्ष, जब तक प्रवास में रहता है, बिना नहाए ही बिता देता है। व्यक्तिगत स्वच्छता के प्रति भी उसका ध्यान नही जाता। जगल मे उसका एकमात्र साथी है तो बांसुरी, जिसे वह अपरिहार्य रूप से अपने साथ रखता है। मानो बंसी ही उसके लिए तीन लोक की खान हो। उस पर जब वह किसी लोक-धुन की तान छेडता है, तो प्रकृति झूम उठती है और कोई पर्वत-बाला अपने खेत में काम करते-करते अनायास रुक जाती है। लगता है जैसे उसका रेवड भी बंसी की मीठी टेर मे साथ दे रहा है।

हरमन गोएट्ज ने भरमौर के दृश्यों की स्विट्जरलैंड के दृश्यो से तुलना की तो है, लेकिन यहां की घाटियां कितनी भयानक है, उसका भी उन्हें पूरा-पूरा आभास था। भरमौर जाते हुए धार का कच्चा पहाड आता है जो इस क्षेत्र का यमदूत कहलाता है। जरा मौसम खराब हुआ तो पत्थर लुढकने लगे और देखते-देखते उसके पास से गुजरने वालों को या तो काल-कवलित होना पडा अथवा बुरी तरह से घायल होकर घर लौटना पडा। प्रत्येक वर्ष यहां ऐसी बहुत सी घटनाएं घटती रहती हैं। ऐसी स्थिति में यायावर गद्दियो का जीवन और अधिक खतरनाक बन जाता है। उन्हें यह भी आशा नही रहती कि वे सही सलामत गन्तव्य पर पहुंच जाएंगे या सकुशल घर लौट आएंगे। रावी नदी और बुढाल नाला यायावरो की जान लेने में कसर नही छोड़ता।

गद्दी पुरुष अपनी कमर पर पूरी गृहस्थी लादकर चलता है, लेकिन उसकी पत्नी भी उस जितना ही बोझ संभालती है। छोटे-छोटे बच्चे कुछ न कुछ सामान ढोकर चलते हैं। मैंने 5–6 वर्ष के बालकों को 5–5 किलो वजन लादे देखा है। गद्दी स्त्रिया (गद्दनें) 1–2 वर्ष के बालकों को कमर पर लादे सामान पर लिटा लेती हैं।

सामाजिक ढांचा

गद्दी परिवार पितृवंशीय तथा पितृसत्तात्मक प्रतिमानो पर आधारित है। परिवार में वृद्ध व्यक्ति को और उसमे भी पिता को मुखिया माना जाते है। पिता की मृत्यु के बाद लड़का उसका उत्तराधिकारी होता है। कुछ परिवारो में स्त्रिया भी पारिवारिक मुखिया के रूप मे देखी गई हैं। ग्रामीण समुदायो में ज्यादातर संयुक्त-परिवार पाए जाते हैं। एक ही छत के नीचे पाच-छ चूल्हे अलग-अलग जलते देखे गए हैं। तंग, अंधेरे और अत्यधिक छोटे दरवाजो वाले मकानों मे पांच–छ भाई एक साथ रहते हुए भी पृथक परिवार के सदस्य हैं।

लोगो का विश्वास है कि स्त्रियों की आपसी कलह संयुक्त परिवारो को तोड़ देती है। एक–विवाह प्रथा होने के कारण भाई–भाई अलग हो जाते हैं। अन्य पर्वतीय जातियो में बहुपति-परिवार प्रथा होने के कारण संयुक्त परिवार पाए जाते है। प्रस्तुत सर्वेक्षण के अन्तर्गत केवल 17 प्रतिशत परिवार ही ऐसे मिले जिनमे संयुक्त परिवार प्रणाली मौजूद थी।

स्त्री–पुरुष दोनों का समाज मे समान स्थान है। परिवार का मुखिया लाडा अपनी पत्नी लाड़ी को सन्तुष्ट करने मे किसी प्रकार की कसर नही रखता। गद्दी स्त्री जवानी में बाटामाटा (अदला-बदली से विवाह करना)

विवाह-प्रणाली द्वारा अपने भाई के लिए वधू लाती है। पत्नी के रूप में वह अपने पति के दु:ख-सुख की चिरसंगिनी होती है। वस्तुत: वह गद्दी पुरुष के समान ही मेहनती होती है।

गद्दी लोग बच्चों के प्रति बड़े दयालु होते हैं। वे उनको डाटते-फटकारते नही, बल्कि उनसे प्रेम का व्यवहार करते हैं। कठिन जीवन व्यतीत करने के कारण वे अपने बच्चों को भी अपने जैसा ही बना लेते हैं। बच्चे भी बड़ो की ही तरह कमर कर भारी बोझ उठाए दुर्गम घाटियो को पार करते हैं।

गद्दी परिवार में एक विचित्र सदस्य और देखने को मिलता है, जिसको चुकंदू या हाल्लड कहा जाता है। इसको विधवा-पुत्र भी कह सकते है। वास्तव में इस समाज की अनेक विचित्रताओ में एक विचित्रता यह भी है कि यदि कोई विधवा अपने मृतक पति के घर बैठी रहती है तो पुनर्विवाह किए बिना ही वह किसी से भी यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। हालांकि यौन-सम्बन्ध के लिए निकट सम्बन्धियों को प्राथमिकता दी जाती है, लेकिन उसे अन्य लोगों से सम्बन्ध करने की पूरी छूट है। इस नए सम्बन्ध से जो सन्तान पैदा होती है वह मृतक पति की ही कही जाती है और उसे जायज माना जाता है। गद्दी समाज में उसको हीन दृष्टि से न देख कर, उससे सम्मान का व्यवहार किया जाता है। उसे मृतक पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भी माना जाता है और दूसरे सभी सामाजिक अधिकार भी दिए जाते हैं।

गद्दी-परिवारो मे सम्बन्धियों और परिवार की व्यवस्था मैदान के सामान्य हिन्दू-समाजो से मिलती-जुलती है। प्राय: सभी सम्बन्धियो को सम्बोधित करने के लिए अलग-अलग शब्द प्रयोग किए जाते हैं। संक्षेप में कुछ प्राथमिक शब्दों की शब्दावली यहा दी जा रही है

सम्बन्ध	गद्दी बोली	सम्बोधन करने का शब्द
पिता	चच	चच
माता	इज्जी	इज्जी, इज्जे
चाचा	कक	कक्क
चाची	ककी	कक्की
ताऊ	तऊवा	तउवा
ताई	तई	तई
मामा	मम, मामा	मामा
बाबा, दादा	दादा, बाबा	दादा
दादी	दादी	दादी
पति	लाड़ा	हैबा, ओए
पत्नी	लाड़ी	हैबो, ओए
ससुर	सौहरा	जी, सौहरा
सास	सरस	जवरी, जी
नाना	नान्न	नान्ना
नानी	नान्नी	नान्नी

बच्चों या छोटों को नाम लेकर बुलाने का रिवाज है। भाई-भाई या भाई-बहन आपस मे नाम लेकर भी बुलाते और भाऊ मा बोबो कहकर भी सम्बोधित करते हैं। लेकिन पत्नी अपने पति का नाम कभी जबान पर भी नही लाती।

ज्येष्ठ सम्बन्धियों में आते हैं . पिता-माता, दादा-दादी, बडा भाई तथा उसकी पत्नी, बडी बहन, नाना-नानी और भानजा।

कनिष्ठ सम्बन्धियों में आते हैं : बच्चे (बहन के लड़कों के अतिरिक्त), छोटा भाई तथा उसकी पत्नी, छोटी बहन और मामा।

भरमौर का सर्वेक्षण समाप्त करके जब मैं वापस आने लगा तो विकास खण्ड के कुछ कार्यकर्त्ताओं ने मुझसे पूछा कि गद्दी परिवारों में सबसे अधिक आश्चर्यजनक कौन सी बात देखने को मिली। वे लोग वर्षों से इन लोगों के बीच रहते हुए काम कर रहे थे, लेकिन जब मैंने कहा कि गद्दियों में मामा भानजे से छोटा माना जाता है और उसको भानजे का चरणस्पर्श करना पड़ता है तो उन्हें आश्चर्य हुआ।

एक दिन जयमल (80 वर्ष) को बालक नन्दू (10 वर्ष) के पैर छूते देखा तो आश्चर्य के साथ मैं उनके डेरे पर चला गया। वृद्ध ने कम्बल बिछा दिया और भोजन की बात पूछी। मक्का की रोटी और ग्रहण का साग चखने के बाद मैंने उससे पैर छूने वाली बात पूछी।

वृद्ध बोला, "हमारे यहा भानजे का स्थान ऊंचा है। मामा चाहे 80 वर्ष का हो और भानजा चाहे 8 साल का, मामा कभी भानजे से बडा नही हो सकता। उसे भानजे के पैर छूने ही पडेंगे। धार्मिक अवसरों पर भानजे को पवित्र तथा ऊंचा स्थान देना हमारा धर्म है।"

मामा–भानजे के प्रसंग में कुछ और तथ्य प्राप्त हुए। केवल मामा ही नही बल्कि मामी भी भानजे के पैर छूती है और उसी प्रकार से स्वागत करती है। मामा-भानजे के साथ भोजन करने के सम्बन्ध में कुछ सामाजिक निषेध भी हैं–जैसे, वह भानजे को न अपना जूठा भोजन खिला सकता है और न ही जूठा पानी पिला सकता है। यदि मामा–भानजे एक साथ रहते हैं और भानजा बहुत कम उम्र का हो तो भानजे को राय लेना आवश्यक नही, पर इससे उसकी पद-स्थिति में कोई परिवर्तन नही आता। वह हमेशा मामा से बड़ा माना जाता है, छोटा नही। भानजा किसी भी दशा में मामा के पाव नही छूता।

गद्दी समाज में विवाह एक अनिवार्य आवश्यकता माना जाता है। शादी के बिना जीवन निरर्थक समझा जाता है। अविवाहित रहते हुए यदि किसी की मृत्यु हो जाए तो उसकी मृत्यु को वे लोग कुत्ते की मौत कहते हैं। पति और पत्नी को रथ के दो पहियों की भांति समझा जाता है। दोनों को एक दूसरे का पूरक माना जाता है।

इस जन-जाति में युवक-युवतियों को अपना जीवन-साथी चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता नही है। माता-पिता ही इस कार्य के लिए जिम्मेदार समझे जाते हैं। यहा मध्य प्रदेश की मुड़िया आदिमजाति की तरह घोटुल प्रथा या कोई प्रणय-संस्था नही पाई जाती। माता-पिता काफी देख-भाल कर वर या वधू का चुनाव करते हैं। वर अच्छे कुल का तथा कमाऊ होना चाहिए और वधू सुन्दर और मेहनती होनी चाहिए। हालांकि गद्दियों में तलाकों की संख्या भी कुछ कम नही है, लेकिन वे विवाह को स्त्री-पुरुष का स्थायी सम्बन्ध मानते हैं।

इस सम्बन्ध में लगभग 300 परिवारों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने से पता चला कि इन आदिवासियों में विवाह का अनुपात बहुत ऊंचा है। अधिकांश विवाहित पुरुष सोलह से पच्चीस वर्ष की उम्र की श्रेणी के मिले। ज्यादातर विवाहित स्त्रियों की उम्र तेरह से उन्नीस वर्ष के बीच पाई गई। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस समाज में बाल-विवाह की प्रथा बिलकुल नही है तथा ये लोग अपने बच्चों को शादियां यौवन के आरम्भिक काल में करते हैं। वर-वधू की उम्र में चार-पांच वर्ष का अन्तर होना उचित माना जाता है। यद्यपि कुछ मामले इस प्रकार के भी देखने में आए हैं जिनमें किसी वृद्ध की शादी षोड़पी के साथ की गई, लेकिन इस प्रकार की सामाजिक बुराइयां उनके यहा बाटासाटा या घरजावित्री जैसी विशेष विवाह-प्रथा के कारण हैं।

गद्दियों में बाटासाटा विवाह की एक सामान्य प्रथा है। सबसे अधिक विवाह इसी प्रकार होते हैं। इस प्रथा के अनुसार एक आदमी अपनी बहन के बदले पत्नी प्राप्त करने का अधिकारी होता है। यह बहन सगी, चचेरी, ...

ममेरी या फुफेरी, कोई भी हो सकती है। इस प्रकार बहन अपने भाई के लिए पत्नी लाती है और भाई उसके लिए पति। 'दानपुन' विवाह-प्रथा की अपेक्षा यह विवाह हीन कोटि का माना जाता है, लेकिन इसके बिना चारा भी कोई नहीं है। इसी वजह से जिनके बहन नहीं होती, वे अक्सर कुंआरे भी रह जाते हैं।

बाटा-साटा विवाह को हम एक उदाहरण से समझ सकते हैं :

मंगू और समाम दो व्यक्ति हैं। मंगू की बहन है—मानो, और समाम की बहन है-प्रेमी। मंगू अपनी बहन के लिए समाम को वर चुनता है और मंगू को बहन मानो अपने पति की बहन प्रेमी को अपने भाई मंगू के लिए लाती है। इस तरह अदला-बदली में विवाह होने को ही यहां बाटासाटा प्रथा कहा जाता है।

गद्दियों में अपने ढंग की एक विशेष विवाह-प्रथा भी प्रचलित है। इस प्रथा के अनुसार वर को अपने भावी ससुर के यहां नौकरी करनी पड़ती है जिसके बदले में उसे रोटी, कपड़ा व आवश्यकता की अन्य वस्तुएं मिलती हैं। यह सेवाकाल पांच से दस वर्ष तक का होता है। यदि लड़का 24 घंटे सेवा-कार्य करता है तो यह सेवाकाल तीन वर्ष कम कर दिया जाता है और तब उसे केवल दो से सात वर्षों तक ही नौकरी करनी पड़ती है। इस अवधि में लड़के-लड़की को यौन सम्बन्ध स्थापित करने की अनुमति नहीं रहती, लेकिन यदि ऐसा हो जाता है तो उसे कोई बड़ा जुर्म नहीं समझा जाता। विवाह केवल तभी होता है जब उक्त सेवाकाल समाप्त हो जाता है। लेकिन यदि लड़की का पिता लड़के के काम से पूरी तरह सन्तुष्ट हो तो निश्चित अवधि बीतने से पूर्व विवाह की रस्म पूरी कर दी जाती है। देखा गया है कि लड़का शादी होते ही अपने ससुर का घर छोड़ देता है और वधू को लेकर अपने माता-पिता के घर चला जाता है।

गद्दी जन-जीवन वस्तुतः विचित्रताओं से भरा हुआ है। उनकी हर वस्तु निराली तथा पड़ोसी संस्कृतियों से भिन्न है। गद्दी के ढीले-ढाले चोले में प्रायः नवजात मेमने भी रहते हैं जो कभी-कभी में-में की आवाज से धौलाधार की नीरवता भंग करते रहते हैं। एक हाथ में हुक्का संभाले या उसे कमर के डोरे में बांधकर बांसुरी की धुन छेड़ता हुआ गद्दी या पुहाल अपने रेवड़ को रावी के तट पर चराता आगे बढ़ता जाता है।

धर्म तथा जादू

भरमौर के मन्दिर उसके गौरवपूर्ण इतिहास के साकार उदाहरण हैं। चौरासी मन्दिरों के कारण यह भूमि अब भी चौरासी इलाके के नाम से प्रसिद्ध है। इनमें से कई मन्दिरों के नाम पर अब शिवलिंग या अन्य पाषाण चिह्न ही शेष रह गए हैं। अवशिष्ट मन्दिरों में लक्षणादेवी, मनी-महेश, नरसिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। गोएट्ज के अनुसार इनका निर्माण तेरहवीं शताब्दी में हुआ था। ये मन्दिर वास्तुशिल्प का अच्छा परिचय देते हैं।

भारत की अधिकांश जनजातियां या तो हिन्दू धर्मावलम्बी बन गई हैं अथवा ईसाई धर्म में दीक्षित हो गई हैं। लेकिन गद्दियों पर यह बात पूरी तरह से लागू नहीं होती। गद्दियों ने यदि हिन्दू धर्म का अनुसरण किया है, तो उसे अपने जनजातीय सांचे में ही ढालकर। ये शिवजी के उपासक हैं; लेकिन इनकी पूजा कुछ अपने ही ढंग की है। इनके शिवजी संसार के जनक हैं तथा व्यक्ति को सुख-शान्ति प्रदान करते हैं। त्रिलोचन महादेव, मनी-महेश तथा शिव आदि नामों से अनेक लोक कथाएं और लोक गीत यहां प्रचलित हैं। शादी-विवाहों में भी शिवजी की स्तुति में गीत गाए जाते हैं। इन गीतों को अंचली के नाम से पुकारा जाता है। ये हैं एक अंचली की कुछ पंक्तियां :

असो देणा शिव जी नुआलाओ,
असो बकरी चुरासी भेड़ा ओ

जे दंगा कुरी इच्छा, इदो पुराओ,
अर्सी ताई मणना ओ।

भक्त कहता है कि यदि मेरी इच्छा पूरी हो गई, तो मैं शिवजी को 80 बकरियां और 84 भेडे भेंट दूगा।

गद्दियो के और भी देवता भेड़–बकरी के शौकीन हैं। कैनूवीर देवता जब किसी गर्भवती स्त्री पर क्रुद्ध हो जाता है, तो गर्भपात द्वारा उसे दण्ड देता है। अतः प्रत्येक गद्दन इस देवता को प्रसन्न रखने के लिए विशेष चिन्तित रहती है। कैनूवीर के पूजन का विशिष्ट विधि–विधान है। एक बकरा काट कर देवता को अर्पण किया जाता है। अन्य वीर देवताओं की पूजा में भी बकरे की बलि दी जाती है।

गूगा देवता गाय को बीमार बना देता है, इसलिए पशुशालाओं में उसकी कल्पित मूर्ति की स्थापना की जाती है। एक मोटा-ताजा बकरा काटा जाता है और उसके खून के छीटे पशुशाला में छिड़क दिए जाते हैं। गद्दियों का विश्वास है कि ऐसा करने से पशु स्वस्थ रहेंगे और खासतौर से गाय को कुछ नही होगा। हर चौथे वर्ष गूगा की ऐसी पूजा की जाती है।

अन्य जनजातियों की तरह गद्दी लोग भी प्राकृतिक स्थानों में बसने वाली तथाकथित प्रेतात्माओं मे विश्वास रखते हैं। जोगनियो, रक्षणिओ, बनमत तथा चट्टान-आत्माओं को बकरी की बलि दी जाती है, तो चंगुजी महाराज भेड़ के भक्षक हैं। कुछ अवतार काली बकरी पसन्द करते हैं, तो कुछ को काले सिरवाली सफेद बकरी का कलेजा दिया जाता है। नाग देवता को बकरी के बच्चे तथा सिद्धजी को भेड़ के बच्चे चढ़ाए जाते हैं।

यह तो हुई देवो की बात। इनके अलावा अनेक देवियां भी हैं, जिनकी पूजा में बकरियां चढानी पडती हैं।

बलि के पशु को पहले स्नान कराया जाता है और फलस्त (फूल और अक्षत) उसके सिर पर चढाए जाते हैं। तत्पश्चात कुशा से उस पर पानी छिड़का जाता है। बलि चढ़ाने वाला भक्त अपने एक हाथ मे तांबे का सिक्का लिए रहता है। यदि पशु कांपने लगता है, तो माना जाता है कि देवता या देवी उसे स्वीकार चुकी है। तदुपरान्त वधिक उसका वध करता है।

पुजारी या चेला कुछ मन्त्र पढ़ता है और पशु की खाल, सिर और एक टांग उसे दक्षिणा में मिलती है। यह वधिक गाव का कोई भी व्यक्ति हो सकता है। प्राय सभी पर्वो और पवित्र अवसरो पर भेड़-बकरियों की बलि देनी पड़ती है।

बंजर खेत में जब पहली बार हल चलाया जाता है, तो यह जरूरी है कि पुरोहित पूजा करे तथा एक बकरी काटी जाए। यदि किसी खेत में गेहू नही उगता तो इसमें तब तक दुबारा हल नही जोता जा सकता, जब तक एक बकरा न काटा जाए।

जब किसी मकान की नींव रखी जाती है, तो पूजा के साथ-साथ एक भेड़ या बकरी की बलि दी जाती है। जब छत के बीच का शहतीर डाला जाता है, तो फिर एक भेड या बकरी काटी जाती है और मास का कुछ भाग दुष्ट प्रेतात्माओ से रक्षा करने के लिए शहतीर में बाध दिया जाता है। बालक–जन्म तथा विवाह के अवसरो पर पशु काट कर खुशी मनाई जाती है। मृतक की मृत्यु के बारहवें दिन रात के समय एक बकरी बलि चढ़ा कर पुरोहित को दी जाती है। चौदहवे दिन मृतक पुरुष की ससुराल वाले वहा आते हैं और बलि देने के लिए बकरियो का प्रबन्ध करते हैं। यात्रा आरम्भ करने से पूर्व देवता को एक बकरे की बलि दी जाती है। मेलो मे भी इस प्रकार की बलि दी जाती है।

इस सिलसिले में एक रोचक घटना मुझे याद आ रही है। मैं जब भरमौर पहुँचा, तो रास्ते में बुढाल नदी के किनारे ताजे खून के छीटे दिखाई दिए। एक गद्दी भरमौर की तरफ से आ रहा था। पूछने पर उसने बताया कि दो दिन पहले एक वृद्ध गद्दी नदी में गिर कर मर गया था। जब उसके लडको को पता चला, तो वे सारा काम

छोड़ कर आज सुबह यहां आए और अपने साथ लाए दो बकरों को मृतक के नाम पर काट गए, ताकि उसकी आत्मा इधर-उधर भटकती न फिरे और अपने बच्चों पर कृपा भाव रखे। इसके अलावा भी अवतार सपने में आकर लोगों को चेतावनी दे जाते हैं कि अगर तुम हमें बकरे की बलि नहीं दोगे तो हम तुम्हें अगले लोक में ले जाएंगे। भयातुर गद्दी तुरन्त चेला या पुरोहित के पास जाकर सहायता की भीख मांगता है, जो उसे जीमन वाला की पूजा की सलाह देता है तथा दक्षिणा में बकरे का सिर या कुछ भाग प्राप्त करता है।

एक दिन देखता हूं, मेरे सामने एक चेला खड़ा धधकते अंगारे खा रहा है। हो सकता है इसने अपने मुंह में कोई ऐसी वस्तु रख ली हो जिससे अंगारों की उष्णता समाप्त हो जाती हो। लेकिन नहीं, ऐसी शंका उठाना इन लोगों से बैर मोल लेना है। कुछ और आगे चलता हूं तो देखता हूँ कि एक चेला रोगियों का इलाज कर रहा है। इसके चारों तरफ टोली रोगी बैठे हुए हैं। वह सितार जैसे एक वाद्य-यन्त्र 'दतारी' को बजाता है। एक विचित्र-सी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। रोगी पंक्ति में बैठ जाते हैं। लगता है कोई आश्चर्य घटित होने वाला है। अचानक एक कौड़ी किसी एक रोगी की ओर फेंक दी जाती है। कौड़ी फेंकते समय चेला कुछ मुद्राएं बनाता है। जिस रोगी के सामने कौड़ी फेंकी गई वह जादू के वशीभूत हो जाता है और सिर हिलाने लगता है। कभी-कभी कुछ बकता जाता है। चेला उससे पूछता है कि किस डायन की बूटी खाने से वह बीमार हुआ है तो रोगी किसी डायन का नाम बता देता है।

तत्पश्चात् पानी की एक बाल्टी मंगाई जाती है। चेला रोगी से उसके हाथ-पैर पानी में डालने को कहता है और स्वयं मोरपंख को रोगी के सिर पर हिलाने लगता है। परिणाम स्वरूप कुछ धूल, बाल, धागे आदि रोगी के शरीर से बाल्टी में गिर जाते हैं। यह प्रक्रिया प्राय: एक सप्ताह तक चलती रहती है और अनेक रोगी स्वस्थ हो जाते हैं। इसमें वैज्ञानिक सत्य कितना है इसके बारे में कोई वैज्ञानिक ही बता सकता है।

कभी-कभी मैंने ऐसा भी देखा कि कोई व्यक्ति अपने शत्रु के घर में त्रिशूल, श्मशान की राख, सरसों या काला उड़द किसी चेले द्वारा गड़वा देता है। नतीजा यह होता है कि उस घर में रहने वाले सभी व्यक्ति किसी न किसी रोग से ग्रसित हो जाते हैं। रोग का निदान ढूंढ़ने के लिए किसी वैद्य या डाक्टर के पास जाने की उन्हें कोई आवश्यकता महसूस नहीं होती। बेचारा आदिवासी फिर दौड़ा-दौड़ा अपने चेले के पास जाकर गिड़गिड़ाता है और कहता है-"बचाओ, बचाओ, चेला, हमें तुम्हारे सिवाय इस दुनिया में कोई और बचाने वाला नहीं है। हम सब किसी प्रेत के शिकार बनते जा रहे हैं। अगर जल्दी ही तुमने कोई जादू-मन्त्र पढ़कर हमारी रक्षा नहीं की तो कोई भूत या प्रेत हमें निगल कर ही दम लेगा।"

चेला कुछ बुदबुदाता है और घर आने का आश्वासन देकर रोगी को वापस भेज देता है। रोगी प्रतीक्षा करता रहता है-चेला रूपी अपने उस भगवान की, जो पता नहीं एक घंटे बाद या पूरा दिन समाप्त होने पर उसके घर आएगा और उस पर अनुग्रह करेगा।

चेला एक माणी (लकड़ी का पात्र) अपने साथ लाता है और उसे घर के बीचोबीच रख देता है। पड़ौस के सभी स्त्री-पुरुष इकट्ठे हो जाते हैं और उत्सुक नयनों से इष्ट या अनिष्ट की आशंका करने लगते हैं। किसी पड़ौसी के हाथ में लाल धागा बांध दिया जाता है। चेला मन्त्रोच्चारण करता है और चावल के कुछ दाने उस पर छिड़क देता है। इसके बाद एक अजीब-सा सन्नाटा छा जाता है। कुछ चेहरे भयभीत से दिखाई देने लगते हैं तो कुछ आश्चर्य मिश्रित हर्ष में डूबे हुए। अचानक माणी चलने लगती है या कहिए वह व्यक्ति स्वयं उसे लेकर चलने लगता है। जिस स्थान पर जादू किया हुआ होता है वहां माणी उलट जाती है। जादू की सफलता का दूसरा चरण पूरा हो जाता है। किन्तु इसकी पुन: परीक्षा की जाती है और उस व्यक्ति से वापस अपने स्थान पर माणी सहित बैठने के लिए कहा जाता है। मन्त्र पढ़े जाते हैं और माणी फिर वैसे ही चलने लगती है तथा उसी स्थान पर जाकर उलट जाती है।

इसके बाद वह स्थान खोदा जाता है और गाडी हुई वस्तुएं निकाल दी जाती है। चेला फिर मन्त्र आदि पढ़कर सारे परिवार के लोगों का होसला बढाता है और शत्रु को नष्ट करने का प्रयत्न करता है। मैं नही जानता उसके इस प्रयास में शत्रु का कुछ नुकसान होता है या नही, किन्तु यह तो सही है कि उस रक्षित परिवार की हिम्मत बहुत बढ़ जाती है, क्योंकि चेले जी महाराज ने उन पर कृपा जो की है; भले ही उसका खमियाजा उन्हें एक-दो बकरे, भेड़ या मेढ़ों की भेंट देकर भुगतना पड़े।

एक बात उल्लेखनीय है कि माणी का प्रयोग कई बार चोरी पकडने के लिए भी किया जाता है। ऐसी दशा मे माणी उस स्थान पर पहुंच कर उलट जाती है जहां पर चोरी का धन गड़ा हुआ है।

चेलों को सिर हिलाने (ट्रास) की स्थिति में लाने के लिए धूप जलाई जाती है। काफी संख्या में लोग इर्द-गिर्द इकट्ठे होते हैं तथा मनी-महेश, शिवजी, केलंग, बुड्बुहारी आदि देवताओं की प्रशंसा में गीत गाए जाते हैं। हम यहा उनके एक-दो ऐसे मन्त्र-गीत देने का लोभ संवरण नही कर पा रहे :

दीणी बोपर दीणी चाचुआ
लाहौल देसे दीणा।
खांण क्या-क्या खान्दी चाचुआ
लाण क्या-क्या लान्दी।
खाणतें खान्दी सतुवें-अतुवे
लाण लान्दी तलवार,
खल भर पीन्दी दुध चाचुआ
मण भण खान्दी सतुआ।
लाण क्या लान्दी चाचुआ।
काला लान्दी भोला
लाल धांधी तरवार।

यदि इस पर भी चेला सिर नही हिलाता तो सब मिलकर निम्नलिखित नारे लगाते हैं :

ओलभले मनीमहेश्वर री जय
ओलभले शिवशक्ति री जय
ओलभले छुड़ोल्लेवाली री जय
ओलभले केलंग वजीर री जय।
ओलभले आप शक्ति री जय।
ओलभले बत्तीवाली री जय।

इस जयकारे के साथ ही चेले में कोई अदृष्य शक्ति-सी आ जाती है जो उसे उठाकर नचाने लगती है। वह अपने आस-पास बैठे लोगों पर सिन्दूर या कुछ पानी छिड़क देता है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि वह लोहे की जंजीर से अपने शरीर को पीटने लगता है। ऐसा वह जान-बूझ कर नही करता बल्कि स्वत: कोई शक्ति उसे मजबूर करती है। कई बार पैनी नोक वाले औजारो से भी वह अपने शरीर को पीटता है। यह औजार संगल या हुंगल नाम से पुकारा जाता है। यह लोहे की छड जैसा होता है। लेकिन इस सम्बन्ध में एक अजीब विश्वास है इन लोगो का कि इस छड से शायद ही कभी गम्भीर चोट पहुंचती हो। जब वह पूरे मूड में आ जाता है तो खेलना बन्द कर देता है और अपने भक्तों पर दयालु हो उठता है। यही समय होता है जबकि लोग बारी-बारी अपने-अपने प्रश्न उसके सामने रखने लगते हैं। चेला सबको अच्छे-बुरे उत्तर सुनाकर उन्हें शान्त कर देता है। रोग, चोरी, लाभ-हानि आदि विषयों पर अनेक प्रश्न पूछे जाते हैं जिनके उल्टे-सीधे उत्तर दे दिए जाते हैं। भक्तगण जयजयकार कर उठते हैं।

इस समय एक काले रंग का बकरा काटा जाता है। चेला उसका खून पीता है। कभी-कभी वह कलेजी निकाल कर खुद खा जाता है और बाकी हिस्सा अपने भक्तों में बांट देता है। अनेक धार्मिक अवसरों पर पशु-बलि देना एक सामान्य प्रथा है जिससे कोई आदिवासी अपने को अलग नहीं रख सकता।

चेलों के इस एकच्छत्र शासन में यदि कोई दखल देता है तो वे हैं डायनें। आदिवासियों के अनुसार जिस पर ये क्रुद्ध होती हैं उसका कलेजा निकाल कर ले जाती हैं। रोगी धीरे-धीरे काल का कलेवा बन जाता है। ये डायनें रात को अपना बिस्तर छोड़कर किसी निर्जन स्थान में चली जाती हैं और खूब गाती-बजाती हैं। वे अपनी शैया पर कोई अपनी जैसी प्रतिमा छोड़ जाती हैं। आजकल डायनों की अपेक्षा चेलों की अधिक छन रही है, अतः चेलों के वरद हस्त के लिए सारी जन-जाति आशाभरी दृष्टि से देखती रहती है।

मृतक पूर्वजों के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए गद्दी लोग धर्मशाला जैसे कुछ सार्वजनिक भवन बनवाते हैं, जिन्हें उनकी बोली में चेडंग, बलगोड या बंगलौड कहा जाता है। इन भवनों में राहगीरों को भी रैनबसेरा मिल सकता है। गद्दी समाज की जातीय सभाएं प्रायः इन्हीं भवनों में होती हैं।

जो लोग इस प्रकार के भवनों का निर्माण कराते हैं, उन्हें समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। कई बार देखने में आया है कि एक-एक परिवार छः सात भवन तक बनवाता है। इन्हें बनाने के लिए वन-विभाग निःशुल्क या कम दामों पर लकड़ी देता है। ये भवन पवित्र स्थान माने जाते हैं।

गद्दियों का विश्वास है कि अगर वे अपने मृतक पूर्वजों के नाम पर बंगलौड नहीं बनवाएंगे तो मृतात्मा सपने में आकर शाप दे जाएगी, जिससे सारा कुटुम्ब नष्ट हो सकता है।

यद्यपि पुजारी के रूप में गद्दी ब्राह्मण भी सुलभ हैं, लेकिन इनके देवी-देवताओं को तो गद्दी–सिप्पी (गद्दियों का एक निम्न वर्ग) ही अधिक पसन्द है। यही कारण है कि यहां चेलों की भरमार है। अधिकांश गद्दियों का ख्याल है कि ऊंची जाति का चेला नकली होता है और नीची जाति का असली। शादी–विवाह में तो गद्दी ब्राह्मण ही संस्कार आदि कराता है, किन्तु देवी-देवाताओं का आराधक प्रायः गद्दी-सिप्पी ही होता है और हर देवी-देवता के पृथक-पृथक चेले और पुजारी होते हैं।

चेलों को यदि यहां के जन-जीवन का शासक कहा जाए, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। किसी को बीमारी हो जाए तो इनके पास दौड़ा हुआ जाए, किसी को यात्रा करनी हो तो इनसे पूछ कर करे और किसी को मकान बनवाना हो तो पहले इनकी राय ली जाए।

अपने नृ-वैज्ञानिक सर्वेक्षण के सिलसिले में मेरी मुलाकात करांला गांव के एक गद्दी से हुई। मैंने उसके पन्द्रह वर्षीय बेटे को भेड़ें चराने के लिए जाते देखा तो मुझे कुछ आश्चर्य हुआ, क्योंकि उस गांव के प्रायः सभी बालक स्थानीय गदियार आश्रम में शिक्षा पा रहे थे। मैंने उस गद्दी गृहस्थ से पूछा, "क्यों भाई, इस बालक ने क्या बुरा किया है, जो तुम इसे स्कूल नहीं भेजते? आश्रम ने तो तुम्हारे बच्चों को बिना किसी खर्च के शिक्षा देने का इन्तजाम कर रखा है।"

गद्दी बोला, "बाबू, मैं कुछ नहीं जानता। हमारे चेले से पूछ लो। मैं इसे दाखिल कराना चाहता था, लेकिन चेले ने कहा कि अगर उसे स्कूल भेजा जाएगा तो सारा कुटुम्ब बर्बाद हो जाएगा।

इस तरह गद्दियों की रोजमर्रा की जिन्दगी धर्म के पचड़े में बुरी तरह जकड़ी हुई है। वह उन्हें और आगे की सोचने ही नहीं देता। न केवल अनपढ़, बल्कि पढ़े-लिखे गद्दी भी चेलों में अटूट विश्वास रखते हैं।

इस तरह प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में विचरण करने वाला यह अर्द्ध यायावर मानव उन्मुक्त होते हुए भी धार्मिक अन्धविश्वास के बन्धनों से मुक्त नहीं है। उसे यदि जीना है तो अपने देवी-देवताओं को मनाना पड़ेगा, चेलों

तथा पुजारियो को खुश करना पड़ेगा और इन सबकी खुशियो के लिए उसे अपनी भेड़ो-बकरियो तथा उनके मेमनो की बलिया भी चढानी ही पडेगी। और अन्त में कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी .

भरमौर के शासक

गद्दी जनजाति के मूल आवास भरमौर का पुराना नाम ब्रह्मपुर है। इसका इतिहास तेरह सौ वर्ष पुराना है। उस समय हिमालय प्रदेश के दो भाग थे-त्रिगर्त गणसघ तथा कुणिन्द गणसघ। त्रिगर्त का अर्थ था-रावी, व्यास और सतलुज की घाटिया और त्रिगर्त सघ में छ: राज्य थे-कौण्डरोपरथ, दाण्डकि, क्रौस्टकी, जालमनि, ब्रह्मपुत्र तथा जानकि। प्राच्य इतिहासकारो के अनुसार ब्रह्मगुप्त ही भरमौर है। वह नगरी कभी चम्बा की राजधानी थी। ह्वेनसाग के अनुसार यह राज्य 660 मील लम्बा-चौडा था।

छठी शताब्दी में भरमौर की स्थापना हो चुकी थी। मारु यहा का सबसे पहला राजा था। स्थानीय जन-श्रुतियो के आधार पर ब्राह्मणी देवी का उद्यान यही पर माना जाता है। वह यहा आकर रहती थी। उसका रिज एक देवस्थान के ऊपर बना है। कहते हैं ब्राह्मणी देवी ब्राह्मण जाति की थी जिसका लडका एक चकोर से बड़ा प्यार करता था। वह चकोर पक्षी किसी कारण से मर गया और उसके वियोग मे ब्राह्मणी का बालक भी मर गया। इस पर मा भी वियोग न सह सकी और उसने बच्चे के साथ ही आत्मदाह कर लिया। अत. गाव वालो ने उसे देवी के रूप में स्वीकार कर लिया और उसका मन्दिर बनवाया।

एक अन्य धार्मिक कथा के अनुसार एक बार शिवजी सिद्धो के साथ यहा आए और उन्होंने ब्राह्मणी देवी के मन्दिर के सामने धूनी रमा दी। देवी कुछ देर के बाद उधर आई तो क्रोध से लाल हो उठी। वह सीधी शिवजी के पास पहुंची और उन्हे तुरन्त चले जाने का आदेश दिया। शिवजी ने बडी विनम्रता से कहा, "देवी, कल सब सिद्ध यहां से चले जाएगे, आज तो विश्राम कर लेने दो।"

"यदि नही गए तो सब पत्थर बन जाएगें।" कहती हुई देवी बडी तेजी से चली गई।

अगले दिन सुबह कोई भी नही उठा। शिवजी भी उस स्थान को नही छोडना चाहते थे। अन्तत: सब पत्थर बन गए। शिवजी को आश्चर्य हुआ। उन्होंने देवी को कोई शाप न देकर वरदान ही दिया। उन्होंने कहा, "जो यात्री मनी-महेश की ओर जाएगे उन्हें ब्राह्मणी-सरोवर में स्नान करना होगा अन्यथा उनकी यात्रा सफल नही होगी।" यह स्थान आज भी चौरासी कहलाता है।

भरमौर के राजाओ का इतिहास महाराजा मारु से शुरू होता है और भूरि सिह पर समाप्त। मारु बड़ा धर्मभीरु था। उसने बड़ी तपस्या की थी। उसके तीन लड़के थे। जब वे बडे हुए तो उसने उन्हें एकछत्र राज सौप दिया।

मारु के बाद बहुत से राजाओ ने राज किया। उनकी एक संक्षिप्त सूची नीचे दी जा रही है :

राजा का नाम	वर्ष ई०	राजा का नाम	वर्ष ई०
मारु (राज्य के संस्थापक)	—	दिवाकर वर्मन	660
जयस्तम्भ	—	मेरु वर्मन	680
जलस्तम्भ	—	मन्दर वर्मन	—
महास्तम्भ	—	कंतर वर्मन	—
आदित्य वर्मन	620	प्रगल्भ वर्मन	—
बाला वर्मन	640	अजान वर्मन	

राजा का नाम	वर्ष ई०
सुवर्ण वर्मन	
लक्ष्मी वर्मन	
कुशाल वर्मन	820
हंस वर्मन	—
सार वर्मन	—
सेन वर्मन	—
सज्जन वर्मन	—
मृत्युजय वर्मन	—
युगकर वर्मन	940
विदग्ध वर्मन	960
डोडका वर्मन	980
सालवाहन वर्मन	1040
सोमा वर्मन	1060
एसत वर्मन	1086
जासत वर्मन	1105
काहल वर्मन	1118
उदय वर्मन	1120
ललिता वर्मन	1143
विजय वर्मन	1175
वैरासी वर्मन	1330
मानिक्य वर्मन	1370

राजा का नाम	वर्ष ई०
भोत वर्मन	1397
संग्राम वर्मन	1442
आनन्द वर्मन	1475
गणेश वर्मन	1512
प्रतापसिंह वर्मन	1559
वीर विष्णु	1586
बलभद्र	1589
पृथ्वी सिंह	1641
चतर सिंह	1664
उदय सिंह	1690
उग्र सिंह	1720
कलेल सिंह	1735
उमेद सिंह	1748
राज सिंह	1764
जीत सिंह	1794
चरहट सिंह	1808
श्री सिंह	1844
गोपाल सिंह	1870
राजा शाम सिंह	1873
भूरी सिंह	1904

5

वफ़ादार गुज्जर

भ्रमण मनुष्य की नैसर्गिक अपेक्षा रही है। बालक जब घुटनों के बल चलना सीखता है तो घर से बाहर झांकता है। धीरे-धीरे उसके पाव लगने लगते हैं। पड़ोस की ओर दौडता है और एक दिन वह सूरदास के काव्य का पात्र बन जाता है।

सिखवत चलन जसोदा मैया
अरबराइ कर पानि गहावत
डगमगाइ धरनि धरै पैया

तरुण अवस्था नाजुक मानी गई है तो कुमार अवस्था और भी अधिक खतरनाक। वह किसी के कहने से नही रुकता। दुनिया की हर वस्तु के प्रति उसका आकर्षण जागता है और फिर एक दिन वह बाग-बगीचों की सैर करने में आनन्द अनुभव करने लगता है। उसे घूमने-फिरने में जो मजा आता है वह पोथी में सिर खपाने से थोड़े ही मिलेगा।

लीजिए, पहाड के इन गुज्जरो से मिलिए। आप गद्दियों से मिले थे न, उन्होंने ऊनी डोरा अपनी कमर पर लपेट रखा था। लेकिन यह क्या, ये भी उन्ही के साथ-साथ चल रहे हैं! पहाड की खड़ी चढ़ाई को हांफ-हाफ कर नही, बल्कि बड़ी उत्सुकता, बड़े उत्साह से पार कर रहे हैं। शायद इन्हें पता नही कि अभी तो दिन छिपने तक चलना है।

जी, ये तो चुस्त पाजामा-सा पहने हैं और नीचा कुर्ता मुसलमानी ढंग का। "क्या नाम है तुम्हारा ?"—मैं पूछता हूं।

"अल्लारखा।"
"मुसलमान हो ?"
"जी हां।"
"और जाति ?"
"गुज्जर।"
और मैं उनके साथ चल पड़ता हूं।

गुज्जर परिवार पूरा का पूरा साथ चल रहा है। वे गाव में पीछे शायद ही किसी को छोड़ते हैं। बच्चे,

बूढे, स्त्री-पुरुष सभी कारवा में होते हैं। इनके पास भेड़-बकरिया नही होती। गायें रखते हैं तो मोटी-मुटल्ली भैंसें भी—बड़े-बड़े सीगों वाली। अगर कोई सामने पड जाए तो सीधे घाटी की सैर करा कर ही छोड़ें।

पुरुष के कंधे पर पड़ा है कम्बल। पैरों में देसी जूता। मोटे गाढे के कपड़े। लम्बा कुर्ता, सिर पर पगड़ी और फिर लुगी जैसी धोती। यह रूप है यहां के गुज्जर का। स्त्रिया भी लम्बा कुर्ता और सलवार जैसा वस्त्र पहनती हैं। उनकी कमर पर बच्चा बंधा होगा तो सिर पर छाछ, घी या दूध की बटलोड़ी होगी। एक-दो मटकिया नही बल्कि 4-5 बटलोडी तक हो सकती है, जिनमें अलग-अलग पेय भरे होते हैं। इस सबके बावजूद वह प्रसन्न मुद्रा में पहाड़ की चढ़ाई पार करती जाती है। इस कठिन यात्रा का क्या कभी अन्त हो पाएगा ?

उधर एक और परिवार की ओर दृष्टिपात करता हूं। एक सप्ताह का नवजात शिशु मां की गोद में सिकुड़ रहा है और मा के सिर पर तीन घडे भी रखे हैं। उसके पति ने अभी-अभी दो भैंसो को दुहा है और उनके दूध से तीसरा घडा भी भर गया है। इस दूध को वह राहगीरों को बेचती है। मुफ्त देती है कभी-कभी। मौसम अच्छा हो या खराब, उसे तो अपने रास्ते पर चलना है। मटकियो को संभाल कर ले जाना है और परिवार के भरण-पोषण मे सहायक बनना है।

गुज्जर अपनी भैंसो को लाठी से हाकता है। भैंसे जब उसकी पगडी को घूमते देखती हैं तो कान दबाकर पीछे-पीछे हो लेती है। शायद वे समझती हैं कि मालिक के साथ झगडा करना अच्छा नही होता। इनकी भैंसे मैदान की भैंसों की तरह नाजुक मिजाज नही होती कि जहां देखा वही पसर गई। नदी का बरसाती पानी हो या गाव का बदबूदार जोहड़ उसे तो बस लोटना है। पहाड़ की भैंस ऐसी-वैसी जगह नही लोटेगी। उसे मखमली घास चाहिए, पीने के लिए साफ-स्वच्छ पानी चाहिए। नहाने के लिए नदी का निर्मल जल। बड़ी प्यारी है इनको भैंसें और उनके कटडों का तो कहना ही क्या। भैंस के बारे मे यो ही लोग पूर्वाग्रह रखते हैं। उनका दूध और मक्खन खाते समय तो कभी ख्याल नही आता कि भैंस बीन का आनन्द क्यों नही ले सकती। कौन कहता है कि भैंस को अक्ल नही होती ? अरे साहब, यही तो मुसीबत है कि समाज मे इतनी झूठी-सच्ची धारणाएं बन गई हैं जिन्हें लोग बिना सोचे-विचारे सीने से चिपकाए हुए चल रहे हैं। सोचने का काम नही है उनके पास। भला बताइए, इन गुज्जरों की भैंसो के दूध और घी से ही तो आपका भेजा दुरुस्त रहता है। सारे वैद्य कहते हैं घी-दूध से शरीर तो बलिष्ठ होता ही है, मस्तिष्क भीतर रहता है।

मेरे मन मे इसी प्रकार के विचार उठ रहे थे कि एक वृद्ध गुज्जर अपनी भैंसो को हाकता हुआ दिखाई देता है। बडी कड़क है उसकी आवाज मे। सारी भैंसे एक जगह इकट्ठी हो जाती है और उसके हुक्म का इन्तजार करने लगती हैं। वह किसी की पीठ को हाथ से थपकाता है, किसी को पुचकारता है, किसी के कटड़े को उसकी मा के पास ले जाता है और किसी की दवादारू करने लगता है। इस प्रक्रिया मे दस-पन्द्रह मिनट में ज्यादा नही लगे। मै आश्चर्यमिश्रित मुद्रा में खड़ा यह दृश्य देखता हूं। बूढा एक क्षण रुकता है और मेरी ओर देखने लगता है।

"आओ बाबू, दूध पीने की ख्वाहिश है क्या ? मैं अभी अपनी जुमा का दूध निकाल कर लाया।"

"नही बाबा, मैं तो आपसे कुछ बात करने का इच्छुक हूं।" मैंने कहा।

"हा—हां, बोलिए।"

"कितनी उम्र होगी बाबा आपकी ?"

"यही कोई सौ से ऊपर।"

"और इस उम्र मे इतनी फुर्ती से यह सब कर लेते है ?"

वह मुस्कराया।

भोटिया महिलाएं

हिमालय के आदिवासी नर्तक

किन्नर युगल

हिमालय का सौन्दर्य

"बाबू, हमारे यहां के लोग आपके मैदान की तरह आराम-पसन्द नही होते। कुदरत के साथ रहते है और जंगल की ताजी हवा में घूमते है। साथ ही कुदरत से लडते भी है। हम लोग दिखावे से दूर भागते हैं। जैसे बाहर है, वैसे ही भीतर।"

"भारत और पाकिस्तान की लडाइयो मे आप कहा थे बाबा ?"

"मैं और मेरा बेटा (साठ साल का) दोनो ही पहली लड़ाई मे कश्मीर सरहद पर थे। अपनी भैसो को चरा रहे थे। कुछ पाकिस्तानी फौजी हमारी सरहद में आ घुसे तो हमें शक पड़ गया। मैं तो वही रहा, लेकिन मैंने अपने बेटे से कहा कि तुरन्त हिन्दुस्तानी फौज को आगाह करो। वह घी लाने का बहाना बना कर चल पड़ा। उसने जाकर खबर दी और हम लोगो ने अपनी धरती की हिफाजत करने का फर्ज पूरा किया।"

मैं सोचने लगा–कितना देशभक्त है यह यायावर। रात-दिन जंगलों और पहाडो में भटकने वाले इस समाज पर हम आदिवासी का बिल्ला तो लगा देते है, लेकिन कितना ख्याल है हमे उनका ? क्या 26 जनवरी को इनका तमाशा-भर निकालना पर्याप्त रहेगा ? इन्ही विचारों मे खोया मै अपने पथ पर फिर चल पड़ा।

सामाजिक ढांचा

गुज्जर सरल, भोले-भाले और ईमानदार लोग है। शरीर से हट्टे-कट्टे, कठिन जीवन के आदी और बहादुर है। ये शान्ति-प्रेमी, शिष्ट तथा विनम्र होते हैं। आतिथ्य-सत्कार मे इनका कभी कोई भी सानी नही रहा। ये अब भी अभ्यागतों का बडा आदर करते है।

इन्होंने आज भी राजपूत प्रथाओ को अपना रखा है। इनकी स्त्रिया मुसलमान औरतों की तरह पर्दा नही करती। इनके यहां बच्चे का जन्म अल्लाह की देन माना जाता है। बच्चे के जन्म की सूचना पडोस मे भी बडी देर से दी जाती है। ऐसा समझा जाता है कि यदि पड़ोसी नवजात शिशु को जल्दी देखने आ गए तो उसे नजर लग जाएगी। पति प्रसूता की झोपड़ी मे तब तक नहीं घुस सकता जब तक बच्चा पैदा नही हो जाता। बच्चों का लालन-पालन बड़े प्यार से किया जाता है। उन्हें अपनी परम्पराओं का पूरी तरह पालन करना होता है।

परिवार नियोजन मे इनका विश्वास नही है। इसे वे खुदा के नियमो को तोडना कहते हैं। यही कारण है कि यहां न तो कोई कन्ट्रासेप्टिव की गुजाइश है और न ही स्वैच्छिक गर्भपात की संभावना। वैसे भी इनकी सन्तानो की संख्या अधिक नही होती।

गुज्जर परिवार पितृ-सत्तात्मक तथा एक-विवाही है। इस जनजाति का इस्लामीकरण अधिक होता गया है, अतः जनजातीय तत्व भी क्रमश. समाप्त होते गए हैं। वास्तव में इस्लाम में चचेरे-फुफेरे भाई-बहनो में आपस में शादी करना जायज है, अत. इनमे भी इसी प्रकार के सम्बन्धो को उचित माना जाता है।

प्राय. माता-पिता ही अपने लडके के लिए वधू का चयन करते हैं। लडके या लड़की को आपस मे देखने का रिवाज नही है। इस समाज मे अपहरण विवाह नाम की कोई चीज नही, जबकि गद्दी जनजातियों मे इस प्रकार के विवाह भी यदा-कदा होते रहते है। हां, बाटा-साटा या आटा-साटा की प्रथा इस समाज मे भी पाई जाती है। उदाहरणार्थ जहूरबख्श रहमान की बहन से निकाह कर सकता है तो बदले में रहमान जहूरबख्श की बहन से निकाह कर सकता है। कभी-कभी यह त्रिकोणात्मक भी हो सकता है। जैसे, 'अ' का विवाह 'ब' की बहन से होता है। 'ब' का विवाह 'स' की बहन से होता। 'स' का विवाह 'अ' की बहन से होता है। ये तीनों सम्बन्ध आटे-साटे का ही रूप है।

यह रिवाज राजस्थान तथा गुजरात के अनेक राजपूत परिवारों में आज भी पाया जाता है। साटा-साटा की प्रथा उत्तर प्रदेश, हरियाणा तथा राजस्थान के अनेक समाजों मे पाई जाती है। आज भी सुदूर ग्रामीण अंचल मे यह प्रथा विद्यमान है। हो सकता है उस समय लड़कियों की कमी इसका कारण रही हो, अथवा लोग रक्त-शुद्धता की दृष्टि से अपने निकट के रिश्तेदारों से ही संबंध रखना उचित समझते हों।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि गुज्जर एक-विवाह पद्धति के अनुयायी है, जबकि इस्लाम मे एक से अधिक शादिया जायज मानी जाती है। बाल-विवाह जैसी कुप्रथाओं से भारतीय समाज आज भी मुक्त नही हो पाया। गावो में छोटे-छोटे बच्चों की शादिया प्रायः देखी जा सकती है। गुज्जरो में भी बाल-विवाह की प्रथा आम है। यहां तक कि बच्चे के जन्म से पूर्व ही मंगनी हो जाती है। दो युवा गुज्जर आपस मे बात कर रहे थे, "भाई-जान, अगर आपके यहां लड़की पैदा हो गई तो मेरी।"

"और अगर आपके लड़का पैदा हो गया तो मेरा।"

"बात तो वही हुई न ; तुम्हारा लड़का या मेरी लड़की।"

"हां, यही तो मैं भी कह रहा हूं कि तुम्हारी लड़की या मेरा लड़का।"

"तो मंगनी पक्की ?"

"पक्की।"

इस प्रकार बात की बात मे जन्म से पूर्व ही बच्चों की शादी की तैयारी शुरू होने लगती है। जबान एक बार दे दी तो दे दी। मजाल है कि बाद में कोई भी पक्ष मुकर जाए। शहरों में या मैदानी गावो मे कितने है जो अपनी जबान के पक्के होते है ? जरा-सी बात पर सम्बन्ध टूटते देर नही लगती। किन्तु इनका विश्वास तो सूर्यवंश की प्रतिज्ञा की याद दिलाता है।

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाइ पर वचन न जाई ॥

वधू-मूल्य जनजातियो की भाति मुसलमानों मे भी पाया जाता है। गुज्जर इस प्रथा का पूर्ण रूप से पालन करते है। वधू-मूल्य वर द्वारा दिया जाता है और यदि तलाक की नौबत आती है तो दूसरा पति पहले पति को उक्त मूल्य चुकाता है। वधू-मूल्य का आदान-प्रदान क्यो शुरू हुआ, यह नृवैज्ञानिको के लिए शोध का विषय है, किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि इससे नारी का सम्मान बढ़ा है, घटा नही।

यद्यपि गुज्जरों मे एक विवाह प्रथा ही पाई जाती है, किन्तु एक-आध परिवार ऐसे भी मिल जाते है जिनमें दो या तीन पत्निया तक भी होती है। पर ऐसे परिवार नगण्य ही है।

वर को अपनी सालियों से हंसी-मजाक करने का पूरा अधिकार है। विवाह के अवसर पर उसकी सालिया निमन्त्रण देती है। वे उसे अपने पास बिठाकर जी भर कर मजाक करती है और वर की बहनों को गालिया भी देती है। वे उसकी आखों मे काजल डालती है और सब से अधिक आश्चर्य की बात यह है कि वे लड़कियां उसके घुटनो पर बैठती है और उसका पीछा तब तक नही छोड़ती जब तक कि उन्हें कुछ नगद मे नही मिल जाता।

सुन्नत या खतना प्रथा मुस्लिम संस्कृति का आवश्यक अंग है। जब लड़का पाच साल का हो जाता है तो नाई द्वारा खतना करा दिया जाता है। एक पशु की बलि दी जाती है और मित्रों तथा सम्बन्धियो को दावत भी दी जाती है।

इस सम्बन्ध में हमने एक वृद्ध से प्रश्न किया, "बाबा, पाच साल के बच्चे पर यह अत्याचार क्यों ?"

"ना, ना, बाबू ऐसा न कहो। यह तो धर्म है, धर्म।"

"आप नही जानते, सुन्नत करने से यौन रोग नही होते।" उसने आगे बताया।

जो भी हो, सुन्नत इस समाज मे प्रत्येक लडके को करानी होती है। वह चाहे रोए या चिल्लाए, लेकिन उसे इस यातना से गुजरना ही होगा।

गुज्जरों के परिवार पितृ-सत्तात्मक है। पितृ-सत्तात्मक परिवारो मे सम्पत्ति पिता से पुत्रो को ही उत्तराधिकार में मिलती है। यदि परिवार में कोई बच्चा नही है तो सम्पत्ति विधवा पत्नी के नाम हो जाती है। लेकिन यदि वह पुनर्विवाह कर लेती है तब उसका सम्पत्ति का अधिकार समाप्त हो जाता है और तब सारी दौलत मृतक के भाइयों में बांट दी जाती है।

जहा तक धर्म का प्रश्न है, गुज्जर अन्य मुसलमानो की भाति दोजख और जन्नत मे विश्वास रखते हैं। उनका कहना है कि दोजख में मुसीबतें मिलती हैं, जबकि जन्नत खुशियो का समन्दर है। वे मानते हैं कि मृतक कब्र मे आराम करते हैं और कयामत के दिन जिन्दा उठ कर खडे हो जाते हैं। उसी दिन उन्हे कर्मों के अनुसार दण्ड या पुरस्कार मिलता है।

मृतक के शव को इस्लाम की पद्धति के अनुसार दफनाया जाता है तथा तीन दिन तक पूर्ण रूप से तथा चालीस दिन तक आंशिक रूप से परिवार में मातम मनाया जाता है। मृतक के परिवार के यहां भोजन तक नही पकता, पड़ोसी ही उन्हें भोजन देते हैं। चौथे दिन घर मे निरामिष भोजन तैयार किया जाता है और मृतक के नाम पर पड़ोसियो को खिलाया जाता है। दसवे दिन कब्र पर एक पत्थर रख दिया जाता है और पड़ोस के बच्चो मे हलवा बाटा जाता है। चालीस दिन के बाद पडोसी तथा रिश्तेदार इकट्ठे होते है और फातिहा पढ़ते हैं।

गुज्जरों का खुदा सातवें आसमान पर रहता है। यद्यपि इन लोगों का विश्वास है कि नमाज दिन में पांच बार पढ़ी जानी चाहिए, लेकिन ऐसे लोग बहुत कम हैं जो नियमित रूप से नमाज पढ़ते होंगे।

प्रत्येक गुज्जर खुदा को मानता है और भोजन के समय अल्लाह को याद करता है।

पशुपालक समाज

गुज्जर मूलत: पशुपालक समाज है जो कश्मीर, हिमाचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश में फैला है। ये लोग इन तीन प्रदेशो मे अपनी भैंसों को लेकर स्वच्छन्द विचरण करते हैं। गद्दी जहा अर्द्ध-यायावर जनजाति है वही गुज्जर पूर्णत: यायावर जनजाति है। ये पूरा वर्ष ही अपने पशुओं को चारा खिलाने के लिए घूमते रहते हैं। यत्र-तत्र अपनी घास-फूस की झोपडिया भी थोड़े समय के लिए बना लेते हैं। यह ऐसी जगह होती है जहा उनकी भैंसो के लिए चारा पर्याप्त मात्रा मे सुलभ हो।

गुज्जरों का कारवां जब कूच करता है तो अस्थायी रूप से तैयार की गई झोपड़िया नष्ट कर दी जाती है और अगले साल तक वहा कोई पेड़ जन्म ले लेता है। यायावर का कोई घर नही, दर नही और उसे भी शायद किसी घर की फिकर नही।

इतिहास के पृष्ठ उघडते है तो एक गौरवपूर्ण युग दिखाई पड़ने लगता है। ये खानाबदोश भी कभी शासक थे। छोटे-मोटे नही, बहुत बड़ी रियासतों के मालिक। अकबर के जमाने मे इन्ही गुज्जर शासको ने गुजरात की नीव डाली थी। कहते हैं यह प्रदेश सहारनपुर तक फैला हुआ था। तभी इस क्षेत्र को गुज्जरगृह अथवा

गुज्जरों का आवास कहा जाता था। इनमें से अधिकांश हिन्दू थे, किन्तु औरंगजेब के जमाने मे इन्होंने इस्लाम कबूल कर लिया, इसीलिए सुन्नी मुसलमान कहलाए।

इनके कुछ गोत्रों की ओर ध्यान दें तो प्राय: सभी राजपूतों के गोत्र मिलेंगे, जिन्हें ये लोग बड़े गर्व के साथ बतलाते हैं। कुछ गोत्र हैं : चन्देल, भट्टी, बाजा, लोछे, कसेने, भैंसी, चौपडा, चौहान, चेची और खरणा।

कल्हण की 'राजतरंगिणी' में म्लेच्छ, निपाद, तन्त्री, न्यायक, महन्त, भिक्षु, खस और दरद आदि गुर्जर जातियों की चर्चा है। ड्रीव गुज्जरों को आर्य-प्रजाति का मानते हैं।

इन पंक्तियों के लेखक ने एक नब्बे वर्षीय गुज्जर से पूछा, "आप इस इलाके में कब आए थे?"

"हमें साल का कुछ पता नही।"

"कोई घटना याद होगी।"

"नहीं, पर सुना है औरंगजेब के जमाने में हम पर जब बडे जुल्म ढाए गए तो हम अपने धर्म की रक्षा के लिए पहाडों में भाग आए। हमें यह भी पता नही कि हमने इस्लाम कैसे और क्यों कबूल किया।"

मेरी जिज्ञासा शान्त नही हुई। कनिघम ने लिखा है—गुज्जर ईसा मसीह के जन्म से पूर्व भी थे और उनका निवास गुजरात में था। गुर्जरों का प्रदेश होने के कारण ही यह प्रदेश गुजरात कहलाया। भाषा-वैज्ञानिकों तथा इतिहासकारों का मत है कि गुज्जर शब्द गुर्जर का ही अपभ्रंश है और गुर्जर शब्द का अर्थ योद्धाजाति होता है।

अभी तक यह स्पष्ट नही हो पाया कि इनके गुजरात से हिमालय की घाटियों मे जाने का मूल कारण क्या था। जो भी हो, वे गुजरात-काठियावाड से जम्मू तथा कश्मीर, और कालान्तर में हिमालय तथा उत्तर प्रदेश पहुंचे। कुछ यमुना और गंगा के किनारे स्थायी रूप से बस गए और कुछ वर्षों के अन्तराल मे दिल्ली की ओर आ गए। हा, यह नही कहा जा सकता कि ये लोग यहा सीधे गुजरात से आए या कश्मीर और हिमाचल प्रदेश होते हुए। उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली के सभी गुज्जर हिन्दू धर्मावलम्बी हैं, किन्तु गोत्र सभी गुज्जरों में प्राय. एक जैसे मिलते हैं। कहा जाता है कि एक गुज्जर नेता ने काफी शक्ति अर्जित कर ली थी। वह अपने समाज से अलग होकर पेशावर चला गया। वहा उसने पेशावर, काबुल और मुल्तान पर एक लम्बे अर्से तक शासन किया था।

इतिहासकार इस बात पर पूर्णतया सहमत नही हैं कि गुज्जरों ने गुजरात छोडने पर इस्लाम स्वीकार किया या बाद मे। लेकिन ऐसा लगता है कि इस्लाम कश्मीर घाटी में चौदहवी शताब्दी में आया था और सूफी सन्तों द्वारा प्रचारित हुआ था। अत. इन लोगों ने भी तभी यह धर्म स्वीकार किया होगा।

हिमाचल और कश्मीर के गुज्जर मूल रूप से पशुपालक जनजाति हैं। वे भैंसों को बडी संख्या मे पालते हैं, किन्तु कुछ परिवार गाय भी रखते हैं। पर गाय का महत्व इसलिए अधिक नहीं, क्योंकि वह भैंस की अपेक्षा दूध कम देती है। अत: गायें इनके पास इक्की-दुक्की ही देखने में आती हैं। हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि कुछ गुज्जर परिवारों ने गद्दी परिवारों की तरह भेड़-बकरिया भी साथ रखी हुई हैं। लेकिन भेड-बकरी या गाय-पालक परिवारों की संख्या नगण्य ही है, अत. हमने अपने अध्ययन में भैंस-पालक परिवारों को ही प्राथमिकता दी है।

गुज्जरों की साख रही है कि वे शुद्ध दूध तथा घी का व्यापार करते हैं। इसलिए उन्हें यहा ईमानदार दूधिए भी कहा जाता है। ये लोग धर्मभीरु होते हैं और दूध या घी मे मिलावट करके खुदा को नाराज नही

करना चाहते। हां, बाहरी लोगों का सम्पर्क अब इन्हें भी परिवर्तित करने में लगा है और कुछ लोगों की साख समाप्त होती जा रही है ।

गुज्जरों में कार्य के बारे में कोई विशेषता वाली बात देखने में नही आती। प्रत्येक व्यक्ति पशु चराने से लेकर दूध निकालना, मक्खन बनाना, बेचना आदि सभी काम कर लेता है। यदि परिवार का कोई सदस्य बीमार हो जाता है तो दूसरे सदस्य उसके काम को स्वत. सभाल लेते हैं। संयुक्त परिवार इनके पारिवारिक जीवन की रीढ है। वे इसे किसी भी कीमत पर तोडना नही चाहते। शायद प्रकृति की निकटता तथा जीवन की अनिश्चितता ने ही इन्हें संयुक्त परिवार पद्धति अपनाए रखने को मजबूर किया हो।

गुज्जर गर्मियों में ऊंची पहाडियों की ओर पयाण करते हैं तथा सर्दियो में नीची पहाड़ियो की ओर उतर जाते है। गर्मियों मे ऊंची पहाड़ियों पर बर्फ नही होती और भैंसो के अनुकूल वातावरण मिल जाता है। पुरुष प्राय: भैंसें चराने के काम मे ही अधिक व्यस्त रहते हैं जबकि स्त्रियां दूध में छाछ और घी बनाने और परिवार के लिए भोजन आदि तैयार करने का उत्तरदायित्व वहन करती हैं।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि गुज्जर अधिकतर निरामिष भोजी हैं। ये दूध के बने हुए पदार्थ तथा रोटी और चावल खाते हैं। वास्तव मे इनके अच्छे स्वास्थ्य का एक राज यह भी है कि ये मास-मदिरा दोनो से ही दूर रहते हैं, हालांकि उनके पडोसी यायावर गद्दी तथा अन्य जनजाति के लोग मांस और शराब दोनो का ही सेवन करते हैं ।

मैंने सौ साल से ऊपर के बीसों वृद्ध गुज्जरों से इस बारे मे बात की तो पता चला कि उन्हें पहाड की कड़ी सर्दी में भी शराब पीने की कतई जरूरत नही पडती। एक वृद्ध बोला, "बाबू शराब भी कोई पीने की चीज है ? अगर पीना ही है तो दूध पियो। घी खाओ। देखते नही, इसी दूध-घी की वजह से मैं इतना हट्टा-कट्टा दीखता हूं और अब भी नवजात कटड़े को अपने कन्धों पर उठाकर पहाड की खड़ी चढाई चढ सकता हूं।"

"तो शराब पीना आप पाप समझते है, बाबा ?" मैंने सवाल किया।

"हां बाबू, हमारी कुरान मे लिखा है, जो शराब पीता है वह बहुत बडा पापी है। इसीलिए हमारे बाप-दादा किसी ने भी अपनी जिन्दगी मे शराब नहीं पी और हमारे बच्चे भी कभी नही पिएंगे।"

मैं सोचने लगा, हिमालय का यह कैसा खानाबदोश समाज है ? धर्म से मुसलमान और कर्म से ब्राह्मण। अब तो ब्राह्मण भी मास और मदिरा डटकर खाते-पीते है, लेकिन इस पिछडे और जंगली कहे जानेवाले समाज की संस्कृति कितनी विशेषताओ को संजोए है। संस्कृतीकरण के सिद्धान्तवादी इधर दृष्टिपात क्यों नही करते ? गुज्जर का ब्राह्मणीकरण स्वतः ही हो गया, पर बेचारे का आधुनिकीकरण कैसे हो ? समाज-वैज्ञानिको के लिए यह बहुत बड़ा सवाल है जो इन घाटियो में विचरण किए बिना हल नही हो सकता।

जो लोग कहते हैं कि बर्फीली पहाडियों पर शराब के बिना जीवन दूभर है, या जो यह मानते है कि पहाड मे मास के बिना काम नही चल सकता, उन्हें चाहिए कि वे कुछ दिन हिमालय के इन खानाबदोश गुज्जरों के साथ भ्रमण करें।

6

किन्नर

वहां हवाओं के झरने से सूखे बांस बजते हैं, किन्नरियां उनके साथ कंठ मिलाती हैं और शिव की त्रिपुर-विजय के उपलक्ष्य में झूम-झूम कर नृत्य करती, गाती और बजाती हैं। यदि कन्दराओं में प्रतिध्वनित तुम्हारा गर्जन मृदंग से निकली ध्वनि की तरह उसमें मिल गया तो शिव-पूजन के संगीत का समां बंध जाएगा।

(कालिदास कृत 'मेघदूत' से)

महाकवि कलिदास के यक्ष ने आषाढ के प्रथम मेघ से हिमालय की किन्नरियो के सौन्दर्य के विषय मे जो कुछ कहा था उसे आज भी प्रकृति के उस विशाल क्रीड़ागण में ज्यों-का-त्यों देखा जा सकता है। वस्तुतः पर्यटकों का स्वर्ग, किन्नर-प्रदेश, कलाकारो के लिए सौन्दर्य की खान है। यहा पुष्पो और फलो से लदे वृक्ष, कल-कल करते झरने तथा रंग-बिरंगे पक्षियों के कर्णप्रिय स्वर मन को बरबस मोह लेते है।

इसी प्राकृतिक सौन्दर्य के कोष को बटोरते है सतलुज के कूल और उसके साथ चलती है भारतीय सीमा की खतरनाक सड़क—हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड। शिमला से मोटर द्वारा सौ मील की यात्रा करने के बाद जूरी पहुंचते हैं। वहा से पैदल यात्रा शुरू होती है। हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड के सहारे किन्नर प्रदेश के मुख्यालय कल्पा तक की यात्रा बड़ी रोमाचक होती है। किन्नर-प्रदेश हमारा सीमान्त प्रदेश है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व यह किसी रियासत का एक अंग था, किन्तु अब हिमालय प्रदेश का एक जिला है। इसका क्षेत्रफल 2,579 वर्ग मील तथा जन-संख्या 40,980 है। इस प्रदेश को कुनौर तथा यहा के आदिवासियों को कुनौरा कहते हैं। इसकी सीमा तिब्बत के नमग्या ग्राम से मिलती है। पास मे शिवकी ग्राम है। पहले यही से दोनो देशो (भारत और तिब्बत) का परस्पर व्यापार हुआ करता था।

तिब्बतवासियो तथा किन्नरों में धर्म, भाषा और सस्कृति के दृष्टिकोण से काफी समानता पाई जाती है, किन्तु किन्नर स्वयं को तिब्बती लामाओं से बहुत ऊंचा मानते आए है। तिब्बत वाले बौद्ध होने के नाते वर्ण-भेद नही मानते, जबकि इन लोगो मे जाति-भेद और वर्ण-भेद दोनो ही विद्यमान है। यहा बौद्ध धर्म का काफी जोर है, किन्तु वस्तुत. इनका धर्म अपने ढंग का निराला है। आजकल यहा अधिकाश शिक्षित किन्नर अपने को हिन्दू धर्मावलम्बी बताते है तथा हिन्दुओ के रीति-रिवाजो का अनुकरण करते है।

कालिदास ने किन्नरो को अश्वमुख कहा है। वानर शब्द का अर्थ आधा आदमी है, वैसे ही किन्नर शब्द का अर्थ आधा देव है। यह मनुष्य और देव के बीच की कोई अतिमानव जाति है जिसका अनमान उसके असाधारण

सौन्दर्य, अप्रतिम माधुर्य एवं सुन्दर कंठ से लगाया जा सकता है। पुराणों, महाभारत तथा उपनिषदों तक में किन्नर प्रदेश की इस जाति का उल्लेख है। प्राचीन साहित्य-मनीषी इनकी गणना गन्धर्व तथा यक्ष जैसी किसी देवजाति में करते है। आज भी सभी नृत्यो तथा संगीत कलाओं मे निपुण किन्नर सम्भृति यहा के दैनिक जीवन में देखी जाती है। भागवत-पुराण के अनुसार कैलास मे भ्रमण करते ब्रह्मा की छाया से किन्नरो की उत्पत्ति हुई। एक मान्यता यह भी है कि जब से आर्यो ने शिव, कुबेर, गणेश आदि देवताओ का ब्राह्मणीकरण किया तभी से किन्नरो को नागो और गंधर्वो की तरह देवजातियो मे स्थान दिया जाने लगा। इन लोगों का कद लम्बा, शरीर सुगठित तथा रंग गोरा होता है। इनका चेहरा प्राचीन आर्यो के बिल्कुल अनुरूप लगता है। असली कैलाश भी इसी प्रदेश मे है। पाडव जब स्वर्गारोहण के लिए इन्द्रप्रस्थ से निकले तब वे हिमालय के अनेक भागो में घूमते रहे और अन्त में किन्नर प्रदेश के कैलाश-शिखर पर पहुंच गए और वही उन्होने अपना शरीर छोडा, ऐसा यहा के लोगों का विश्वास है।

भेड़ पालने वाले किन्नर चम्बा के गद्दियों की तरह अर्द्ध यायावर हैं। पुरुष ऊनी पाजामा और अचकन पहनते हैं, लेकिन कमीज नही पहनते। यहा चमड़े की अपेक्षा ऊनी जूता अधिक पसन्द किया जाता है। स्त्रिया कम्बल-जैसी मोटी ऊन की साड़ी तथा चोली पहनती है। स्त्री-पुरुष दोनो ही फेल्ट कैप-जैसा कनटोप पहनते हैं। इसके साथ एक पट्टी जुड़ी रहती है जो शरद ऋतु मे कान ढकने के काम आती है। स्त्रियो मे आभूषण पहनने का रिवाज है। वे कानो मे चांदी के आभूषण पहनती हैं तथा कलात्मक ढग से वेणी गूथती हैं। धनी स्त्रिया सोने के आभूषणों द्वारा अपने अप्रतिम सौन्दर्य मे चार चांद लगाती हैं तो निर्धन महिलाए सस्ती धातुओ के आभूषणों से ही अपने तन को सजा कर खुश हो लेती है।

किन्नरो की पुरानी राजधानी कामरू है। बुशहर के राजा के शासन मे ठाकुरो का आधिपत्य था। किन्नर प्रदेश का एक महत्वपूर्ण स्थान है चीनी, जहा बाणासुर का किला है। चीनी से 18 मील दूर सतलुज नदी के किनारे मोरंग में पाडवो का किला है। कहते है उन्होंने यह किला अज्ञातवास के समय एक ही रात मे बनवाया था। जौनसार बावर की तरह किन्नर प्रदेश मे भी पाडव-संस्कृति के अवशेष अभी तक विद्यमान है, जिनका जीता-जागता उदाहरण यहा की बहुपति प्रथा है। पाच भाई एक या एक से अधिक पत्निया रख सकते हैं, जिन पर सब का समान अधिकार है। यह प्रथा जौनसार बावर की जनजाति मे प्रचलित प्रथा से मिलती-जुलती है।

बेचारी औरत यहा शोचनीय अवस्था में रहती है। उसे पुरुष से अधिक काम करना पडता है और कई पतियो की गृहस्थी भी अकेले संभालनी होती है। पुरुष हल चलाता या लकडी काटता है, जबकि स्त्री रात-रात भर जाग कर खेतो मे पानी देती, फसल काटती, भार ढोती और ऊन कातती है।

गडरिया किन्नरो का धन उनकी भेड़े और बकरिया हैं जिन्हें लेकर वे चरागाहों की तलाश मे इधर-उधर जाते है। इनसे दूध, ऊन तथा मास प्राप्त होता है। तिब्बती याक तथा भारतीय गाय से उत्पन्न एक नई संकर जाति का बैल यहा का बलिष्ठ पशु है जो साधारण बैल से चौगुना काम करता है। यहां के घोड़े बहुत प्रसिद्ध है। कार्तिक मेले में स्पिति से लोग भारी सख्या मे घोड़े लाकर यहा बेचते है।

ये लोग मुख्य रूप से बथुआ उगाते है। कही-कही धान और गेहूं की खेती भी की जाती है। आलू, खट्टे फल, कद-मूल आदि से ये गुजारा करते है। यहां सभी खाद्य-पदार्थ महंगे मिलते है। चीनी में एक बार तो नमक का भाव अस्सी रुपये मन तक पहुंच गया था। वास्तव मे यह क्षेत्र एक अरसे से निर्धनता का शिकार बना हुआ है। शनै. शनैः इस प्रदेश का विकास हो रहा है, किन्तु अभी प्रगति बहुत धीमी है।

किन्नरों की अपनी भाषा है जिसे हमस्कत कहते हैं। हालाकि उसकी लिपि भी स्वतन्त्र है किन्तु व्यवहार में न आने के कारण नागरी लिपि मे ही लिखी जाती है। इस भाषा मे हिन्दी-उर्दू के शब्द एक प्रतिशत

ही है। दस-बारह मील की दूरी पर बोलियों में परिवर्तन हो जाता है। कल्पा के ग्राम-पास पागी, चीनी, रोघी, कोठी, खबागी, पोवारी ग्रादि गांवों मे चार प्रकार की भाषाएं बोली जाती हैं। शंशियो (राजपूतों), कोलियो, लोहारों ग्रौर बढ़इयों की बोलियों में ग्रन्तर है।

किन्नर बोलियो में जितना माधुर्य है उतने ही मादक उनके गीत भी हैं। यहां का जन-जीवन शृंगार-गीतो मे ग्राप्लावित है। संयोग ग्रौर वियोग, दोनों ही पक्षों पर काफी लोकगीत गढे गए हैं। लम्बी-लम्बी कथाएं भी लोकगीतो के माध्यम से सुरक्षित चली ग्रा रही हैं। नृत्यों की थिरकन के साथ लोकगीतो के ग्रारोह-ग्रवरोह मे जब किन्नरियां ग्रपना दुःख-दर्द भूलाकर छंग के प्याले-सी छनकती हैं तो प्रकृति झूम उठती है, पर्वत प्रतिध्वनिया करने लगते हैं ग्रौर तब कोई किन्नर या तो ग्रपने भाग्य को कोसने लगता है ग्रथवा उनके साथ मिलकर स्वयं गाने-बजाने लगता है।

7

घुमन्तू भोटिया

हिमालय के महान लोकसेवक पं० धर्मदेव शास्त्री ने कहा था : "हिमालय वर्षों से उपेक्षित रहा है। यहां की जनजातियों का सवाल पहाड के समान है, इसलिए उसे उसी स्तर पर हल किया जाना चाहिए। इस कठिन कार्य के लिए केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार तथा जनता, तीनो के परस्पर सहयोग की सख्त जरूरत है।"

यह तब की बात है जब मैं अशोक आश्रम मे मासिक पत्र 'हिमालय' का सम्पादन करता था। एक दिन वनवासी सेवा मंडल, छिंदवाड़ा से नाना बापट आश्रम मे पधारे। धर्मदेवजी शास्त्री की तरह वे भी करीब-करीब सभी जनजातियो में घूम आये थे। सायंकालीन प्रार्थना के बाद जब सामाजिक विषयो पर कुछ चर्चा होने लगी तो शास्त्रीजी ने उपर्युक्त बात कही थी।

उत्तर प्रदेश के गढ़वाल और कुमाऊं जिलों के उत्तरी भाग में बडे-बडे सुनसान जगल, पथरीली चट्टाने और बर्फ की ऊंची-ऊंची चोटिया है। यही की पथरीली चट्टानो मे एक और खानाबदोश समाज मिलता है—भोटिया आदिवासी। ठीक गद्दियो की तरह ये लोग पशुपालन करते है। ये अपने गांवों मे कम ही टिक पाते है। सर्दियों मे बर्फ पड़ने से भेड-बकरियों के लिए चारा नही मिलता, इसलिए ये लोग भी नीचे की पहाडियों पर आ जाते है। पहले कुछ लोग अपने परिवारों को छोड़कर तिब्बत की मंडियो में चले जाते थे और ऊन, हीग, जीरा तथा सुहागा का व्यापार करते थे, लेकिन चीन के आक्रमण के बाद उनका यह व्यवसाय घट गया है। इन लोगों में गरीबी और अशिक्षा बहुत ज्यादा है।

भोटिया लोग गोरे और सुन्दर होते है। इनका रूप-रग कुछ-कुछ तिब्बतियो से मिलता-जुलता है। इनकी वेष-भूषा भी उन जैसी ही होती है। सर्दी ज्यादा पडने के कारण यहा ऊन के वस्त्र पहने जाते है। पुरुष घुटनो तक लम्बे चोगे पहनते हैं। सिर पर तिब्बती टोपी या पगडी जैसी पोशाक पहनी जाती है। स्त्रिया भी कुछ इसी प्रकार के वस्त्र पहनती हैं। वे सिर पर चादर ओढती हैं। लडकिया बालो को रूमाल मे बांध लेती है। कानों मे बालिया, हाथों मे चूडिया और गले मे कंठी पहनने का यहां आम रिवाज है। लेकिन गद्दियो की तरह यहा रस्सा नही बाधा जाता। वास्तव मे हर समाज की प्रथाएं अपने ढंग की निराली होती हैं। इसलिए यह जरूरी नही कि एक खानाबदोश जाति दूसरी खानाबदोश जाति की तरह ही वेश-भूषा धारण करे।

इनका खान-पान बिल्कुल सादा होता है। विशेष अवसरो पर देशी शराब भी पी जाती है। मेहमान की सेवा करने में कोई कसर नही रखी जाती। अगर आप उनके घर पहुंच जाएं तो कोई चीज मागने की जरूरत नही

पड़ेगी, बल्कि जो भी उनके घर में खाने–पीने को होगा, आपको दे दिया जाएगा। अतिथि की सेवा करना वे अपना परम धर्म मानते हैं।

भोटिया बच्चे अपने मा-बाप के साथ भेड़-बकरिया चराने में सहायता करते हैं। लड़कियां अपनी मा के काम-काज में हाथ बंटाती हैं। घुमन्तू होने के कारण इन बच्चों की पढ़ाई-लिखाई बिल्कुल नहीं हो पाती। वैसे भी इनके मा-बाप पढाई को ज्यादा महत्व नहीं देते। भोटिया लोग चरित्रवान होते हैं। अगर चांदनी चौक की किसी दुकान में आपका बटुआ भूल से रह जाए और आप याद आते ही फिर वापस उसे ढूढने जाएं तो वहा हरी झंडी दिखाई पड़ेगी। बटुआ नही मिलेगा और आप बुद्धू की तरह अपने घर लौट आओगे। लेकिन यदि आपका एक पैसा भी इनके इलाके में खो जाए और आपको उस स्थान का ध्यान रहे तो फिर कोई कारण नही जो आप उसे दोबारा न पा सकें। ये लोग उस पैसे को देखने पर भी नहीं छुएंगे। पैसा ही नहीं, कोई और कीमती चीज भी अगर खो जाती है तो ये लोग उसे कभी नही उठाते। यह जानकर आश्चर्य होता है कि भोटिया लोग अपने घरों में कभी ताला नही लगाते, क्योंकि यहां न कोई चोरी का डर है, न किसी डाके का। हमारे शहरों में रोज ताले टूटते हैं, सेंध लगती है, बैंक लुटते हैं और दिन-दहाड़े डाके पड़ते हैं, लेकिन कितना ऊंचा है भोटिया समाज——उन्हें न किसी चोरी की चिन्ता है और न किसी ठगी की।

सचमुच इन आदिवासियों को नीचा कहने वाले लोगों के लिए यह एक चुनौती है। क्या अपने को सभ्य कहलाने वाले लोग कोई ऐसा शहर या कस्बा बतला सकते हैं, जहा इस प्रकार का ऊंचा चरित्र देखा जा सके? कितने अच्छे गुण हैं इन पहाड़ी समाजों में। कहा जाता है कि गरीबी में आदमी निकृष्ट से निकृष्ट कृत्य करने को तैयार हो जाता है। भूखा आदमी क्या पाप नहीं करता और अभाव आदमी से कौन-सा दुष्कर्म नहीं कराते। लेकिन भोटिया समाज पर यह बात सच्ची नहीं उतरती। यहा सब चीजों का अभाव है, लेकिन चरित्र का अभाव नहीं है। यहा गरीबी है लेकिन ईमानदारी की कमी नहीं। यहा शिक्षा नही है, लेकिन सच्चाई है।

एक मजेदार बात यह है कि मध्य प्रदेश के मुड़िया आदिवासियों के घोटुल यहा भी पहुंच गए हैं। हालांकि मुड़िया लोगों के घोटुल जितने सुव्यवस्थित और नियमित होते हैं उतने किसी और आदिम समाज में देखने को नही मिलते, फिर भी घोटुलों जैसी पवित्रता यहा जरूर देखी जा सकती है। कुड़ी एक किस्म की चौपाल होती है, जहा सब युवा मिल-जुल कर रहते हैं। लड़के-लड़किया, सभी एक साथ मिलकर रहते हैं और संसारिक जीवन में सफलता पाने के व्यावहारिक गुण सीखते हैं। प्रणय का आरम्भ भी यहीं से होने लगता है।

साझ होते ही मां-बाप अपने बालक-बालिकाओं को इन घरों में भेज देते हैं, जहा वे मिलकर लकड़िया इकट्ठा करते हैं और आग जलाकर उसके पास बैठ जाते हैं। यहा इन्हें कई प्रकार की शिक्षाएं दी जाती हैं, लेकिन पढाई-लिखाई की इन्हें फुर्सत कहा। अफसोस है, खानाबदोशी की जिन्दगी बिताने के कारण ये युवक-युवतिया इन चौपालों में अधिक समय तक नहीं रह पाते।

जहा तक इनके धर्म का सम्बन्ध है, ये लोग शिव के उपासक होते हैं। लेकिन शेषनाग की पूजा भी करते हैं। यह पूजा धूप, दीप तथा फूलों-फलों से की जाती है। बलि प्रथा यहा नहीं के बराबर है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि तिब्बत और चीन के पास होते हुए भी उनके धर्म का इन पर कोई असर नहीं पड सका। इनका धर्म हिन्दू धर्म से बिल्कुल मिलता-जुलता है। ये लोग मृतकों का श्राद्ध अवसर हिन्दुओं की तरह ही करते हैं।

इनके लोकगीत बड़े प्यारे होते हैं। समय मिलने पर नाच-गानों का कार्यक्रम भी किया जाता है। हिमालय की कन्दराओं में यह मधुर ध्वनि जब गूंजती है तो तापसी भी एक बार श्रवण रस को व्याकुल हो उठते हैं।

8

खानाबदोश खाम्पा तथा जाड़

हिमालय की जनजातियों में तिब्बत के आप्रवासियों की संख्या भी कुछ कम नहीं है। जो तिब्बती भारतीय सीमा में आने के बाद से अभी तक खानाबदोश जीवन बिता रहे हैं उन्हें खाम्पा अथवा खम्पा के नाम से पुकारा जाता है। पहले ये लोग भारत और तिब्बत में व्यापार करते थे। आजकल ये सीमान्त प्रदेशों में घूमते रहते हैं। जब ये प्रवास में होते हैं, सपरिवार अपनी सारी गृहस्थी घोड़ों पर लाद कर चलते हैं। जहा पडाव डालते हैं वहां तम्बू तन जाते हैं।

खाम्पा आदिवासी आज भी मुख्यतः व्यापार करते हैं। इनकी स्त्रियां कभी सुई, कघा, जम्बू और हीग आदि बेचने के लिए ग्रामों में जाती थीं। आजकल आधुनिक वस्तुएं भी साथ रखने लगी हैं। खाम्पा सामान्यतया खेती नहीं करते और न ही गद्दी या गुज्जरों की भाति भेड, बकरी अथवा गाय–भैंस आदि पशु रखते हैं। तिब्बत या स्पिति के बड़े या छोटे कुत्ते ही इनके साथ रहते हैं जो रात में पहरा देते हैं।

अनेक खाम्पा घोड़ों का व्यापार करते हैं। आमतौर पर ये घोडे स्पिति से लाए जाते हैं और रामपुर बुशहर के प्रसिद्ध लवी मेले में उनकी खरीद-फरोख्त होती है। आज भी कुछ खाम्पा परिवार ऐसे हैं जो तम्बुओं में नहीं बल्कि प्राकृतिक गुफाओं में ही अपना डेरा डालते हैं तथा साधारणतया भीख माग कर जीवन यापन करते हैं। ऐसे खाम्पा टिहरी गढवाल में अधिक मिलते हैं। इन्हें ही भैरो जाड़ कहा जाता है। वे सर्दियों में हरिद्वार, दिल्ली और अमृतसर तक पहुंच जाते हैं तथा गर्मियों में तिब्बत तक पहुचते हैं। अब यह क्रम कम हो गया है।

खाम्पाओं की सही गणना नहीं हुई, क्योंकि ये लोग घुमन्तू हैं और अपने आपको तिब्बत और भारत दोनों में से किसी एक ही देश का नागरिक नहीं बताते।

मैं उन दिनों अशोक आश्रम में था और पण्डित धर्मदेव शास्त्री के साथ यदा-कदा इन लोगों से मिलता रहता था। एक दिन हाग रग की तरफ जाते हुए नारकडा पहुंचे तो वहा एक खाम्पा परिवार से भेंट हुई। इस परिवार के मुखिया ने पूछने पर अपने आपको चागो का निवासी बताया। बाद में सयोगवश जब चागो के पास यही व्यक्ति मिला तो इसने अपने आपको नारकडा का निवासी बताया। वास्तव में इन लोगों का कहीं पर घर नहीं है। इसलिए जनगणना के समय ये लोग अपने आपको पंजीकृत कराने से संकोच करते रहे हैं। पता चला है कि गढवाल की नीची घाटी के अनेक खाम्पा परिवार हिमाचल में आ गए हैं क्योंकि उधर के रास्ते से अब ऊन और पशम का व्यापार कठिन हो गया है और तिब्बती नमक का व्यापार भी अब उधर समाप्ति पर है। ऐसा भी सुनने में आया है कि ये लोग तिब्बत में अपने आपको भारतीय बताते हैं परन्तु भारत में अपने को

तिब्बती बताते हैं। खाम्पा ग्रादिम जाति की निश्चित जनगणना करके इनके पुनर्वास की योजना बनाई जाती तो ग्रच्छा होगा। सीमान्त पर इस प्रकार दोहरी नागरिकता वाले व्यक्तियों का रहना उपयुक्त नहीं है। हिमाचल की चीनी तहसील में कुछ खाम्पा स्थायी रूप से रहते हैं। इनकी ग्राकृति तिब्बतियों से मिलती है। इस घुमन्तू जाति में रक्त सम्मिश्रण भी हुग्रा है। इस कारण चेहरे से लोग शुद्ध मंगोलियन नहीं लगते। इनकी ग्रौरतें सलवार पहनती हैं। हिन्दी, तिब्बती ग्रौर हमस्कत भाषा को ये भली भांति बोल सकते हैं। कुछ खाम्पा सरहान में भूमि लेकर बस गए हैं। इनकी सन्तान भी ग्रब पढ़-लिख गई है। खाम्पा पुरुषों की ग्रपेक्षा स्त्रियां ग्रधिक व्यवहार-कुशल होती हैं।

प० धर्मदेव शास्त्री का सुझाव था कि चीनी ग्रौर रामपुर तहसील के परगनों के निवासी किन्नर शब्द से सम्बोधित किए जाएं। उनका कहना था कि 'जाड' शब्द में हीनता की गन्ध है इसलिए इस शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिए। बुशहर के कुछ लोग हांगरंग वालों को ग्राज भी तिब्बती कहते हैं। यह भी ठीक नहीं। हमारे विचार से खाम्पाग्रों का पुनर्वास सरलता से हो सकता है।

खंगपा और खाम्पा

'खगपा' का शब्दार्थ है—ग्रपना घर ग्रपने साथ लेकर चलने वाले खानाबदोश। खाम्पा ग्रथवा खम्पा का शब्दार्थ है—पूर्वी तिब्बत के निवासी। खम ग्रर्थात पूर्वी तिब्बत से कभी जिनके पूर्वज भारत ग्राए थे। इनको हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं :

(1) पिति खाम्पा—जो स्पिति के रहने वाले हैं परन्तु खानाबदोश हैं।

(2) गर्जा खाम्पा—ये लाहौल के मूल निवासी हैं परन्तु खानाबदोश हैं।

(3) नेखोर खाम्पा—नेखोर का शब्दार्थ है तीर्थयात्रा।

जो तिब्बती खाम्पा तीर्थयात्रा के लिए भारत ग्राते थे ग्रौर जगह-जगह यायावरों के समान घूमते थे उन्हें नेखोर खाम्पा कहा जाता था। कुछ को श्यार खाम्पा भी कहते हैं। ग्राजकल ये कुल्लू तथा ग्रन्यत्र घूमते रहते हैं। नेखोर खाम्पा लोगों में कुछ डाकू भी होते थे। इन खाम्पाग्रों पर पूरी निगरानी रखी जाती थी। ग्रब सासी तथा ग्रन्य जरायमपेशा जनजातियों की भांति ये लोग भी बहुत बदल गए हैं।

(4) खुनु खाम्पा—रामपुर-बुशहर में रहने वाले खाम्पा खुनु खाम्पा कहलाते हैं।

तिब्बत में शासन ग्रौर व्यवस्था का कोई निर्धारित रूप कुछ समय पूर्व तक नहीं रहा। तिब्बत के हुर्क ग्रौर जोग ग्रथवा तहसीलदारों की मनमानी तथा ग्रत्याचार से तंग ग्राकर जो तिब्बती भारतीय सीमान्त में ग्राकर रहने लगे, उन्हें ही भारत के सीमान्तवर्ती क्षेत्रों में रहने वाले लोग जाड़ कहते हैं। जाड प्रधानतया बुशहर ग्रौर टिहरी गढवाल के तत्कालीन राजाग्रों की शरण में ग्राए थे ग्रौर इन भारतीय नरेशों ने ग्रपनी सीमा में इन्हें रहने की ग्रनुमति दे दी थी। साधारणतया 'जाड़' शब्द का तात्पर्य है, वर्ण-व्यवस्था न माननेवाले लोग। हिमाचल प्रदेश में जाड़ प्रधानतया चीनी तहसील के ग्रंतर्गत हांगरंग में रहते हैं। जाड़ों की भाषा तिब्बती है। चीनी तहसील के किन्नरों की भाषा से जाडों की भाषा पृथक है। जो किन्नर तिब्बत के साथ ऊन ग्रौर पशम का व्यापार करते हैं वे जाडों की भाषा बोलते ग्रौर समझते हैं। किन्नर ग्रादिमजाति के लोग जाडों को हीन मानते हैं। नि:सन्देह शिक्षा, संस्कार ग्रौर सफाई ग्रादि की दृष्टि से जाड़ ग्रभी बहुत पिछड़े हुए हैं। ये लोग घर में किसी की मृत्यु होने पर ही साधारणतया स्नान करते हैं। तिब्बत में याक ग्रौर गौर की संकर जाति के पशुग्रों को वहां के निवासी निःसंकोच खाते हैं। ग्रत : तिब्बत से जो जाड शरणार्थी बनकर भारत ग्राए वे भी

पहले याक और गौ का मांस खाते थे। परन्तु [illegible] के राजा ने ऐसा करने की मनाही कर दी, इसलिए अब जाड़ों में यह प्रथा नही रही। हांगरंग के जाड अपने-आपको तिब्बतियो से श्रेष्ठ मानते है इसलिए उनके हाथ का पानी लेने मे भी संकोच करते है। भारतीय प्रदेश में अनेक शताब्दी पूर्व [illegible] जाड भारत देश के प्रति अब पूर्ण वफादार है और पूर्णतया भारतीय हैं। [illegible] भी रात मे जाड बालकों [illegible] माता-पिता तिब्बत के डाकुओं और शासकों के अत्याचार और आतंक की लम्बी कहानियां सुनाते हैं।

तिब्बत से आकर भारतीय प्रदेश में रहने वाले जाड़ों को हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं।

1. जाड

2. खम्पा अथवा खाम्पा जाड

3. भेरों जाड़

हिमाचल प्रदेश के हागरंग, पंजाब के स्पिति और टिहरी-गढवाल के [illegible] क्षेत्रो मे जो जाड़ रहते है उन्हें हम क्रमशः उक्त तीन श्रेणियों मे रख सकते हैं। इन क्षेत्रों मे जाड़ों की सख्या काफी रही है।

हांगरंग के जाड निवासियों के पूर्वज करीब पाच-छः शताब्दी पूर्व तिब्बत से भाग कर हागरग मे आकर बस गए थे। हांगरंग पश्चिमी तिब्बत के रुनहुंग परगना मे मिला है। हागरंग का क्षेत्रफल करीब पांच सौ वर्ग मील होगा।

जनसंख्या और क्षेत्रफल की दृष्टि मे छोटा होने पर भी भारतीय सीमान्त का यह सबसे दुर्बल किन्तु राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भाग है। इस प्रदेश मे गरीबी बहुत है। शिक्षा, यातायात आदि सभी दृष्टियो से यह प्रदेश मध्ययुग का अवशेष मालूम होता है, जो अभी भी अविकसित और आदिम अवस्था मे है। प्रदेश मे सबसे ऊंचा शिखर पुरग्यूर है, जिसकी ऊचाई बाईस हजार फुट से भी अधिक है। यह प्रदेश स्पिति नदी के दोनो किनारों पर बसा है। सबसे कम ऊंचाई पर आबादी 'लियो' मे है। वहा की ऊचाई समुद्र की सतह से दस हजार फुट है। वैसे तेरह हजार फुट ऊंचाई पर भी एक ग्राम है।

हांगरंग के पूर्व मे पश्चिमी तिब्बत का रुनहुंग परगना है, जिसका पहला ग्राम शिपकी भारतीय सीमा के अन्तिम ग्राम नमग्या से नौ मील की दूरी पर है। शिमला से शिपकी तक भारत-तिब्बत रोड अंग्रेजी राज्य के जमाने मे बनी थी। हांगरंग के पश्चिम में सुन्नमे ग्राम है, जो किन्नर प्रदेश के अन्तर्गत है। उत्तर में तांचो (तिब्बत) और दक्षिण मे स्पिति (पजाब) है। नमग्या के पास सतलुज को पार करके टाशीगंग मठ के पास से हागरंग जाने का मार्ग है जो हिमालय के दुर्गमतम भागो मे से है। इसका केन्द्रीय ग्राम नाको है, जबकि सबसे बडा ग्राम चांगो है। स्पिति के व्यापारी संपा नाको के मार्ग से स्पिति और तिब्बत मे जाते हैं।

कैलाश से भी ऊंचे शिखर पुरग्यूर के नीचे बसा होने से हागरंग तक मानसून नही पहुंच पाता और इसलिए यह प्रदेश बादलो के लिए वर्जित है। अब भी स्थानीय मानसून के कारण जब भी वर्षा होती है तब बर्फ ही बरसती है।

लामाओं का प्रदेश

हागरंग मे लामाओ का पूरा प्रभाव है। यहा के निवासी भूत, प्रेत और ऐसे ही अनेक अन्धविश्वासो के शिकार है। खेतो मे अनेक स्थानो पर सफेद कपडे की झडिया लगी हुई हमें मिली, जिन पर "ओम्माणे पद्मे हुम्" मन्त्र लिखा था। कहते हैं कि इसमे खेती को हानि पहुंचाने वाले भूत-प्रेत-पिशाच खेतों मे नही आते। प्रत्येक स्त्री-पुरुष के गले मे लाल, पीले और सफेद मनकों की माला रहती है। यह माला ही इनका गहना है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक नर-नारी बौद्ध धर्म के मन्त्र का जप भी माला से करते है।

जाड़ संस्कार

हागरंग मे सब कार्य लामाजी के आदेश पर होते है। परिवार में बच्चे के जन्म के सातवें दिन लामा द्वारा घर की शुद्धि होती है। छंग नामक एक प्रकार की मदिरा से बच्चे का परिचय जन्म के साथ ही करा दिया जाता है। नामकरण तिब्बतियों के नामों के अनुरूप ही होता है। इससे तिब्बत के साथ उनके विगत सम्बन्धो का पता चलता है। कुछ नाम इस प्रकार है :

पुरुषो के नाम—दर्जे मेड़ंग, अंग्यिल, शल्टू, मनमड्क, रिगजिन योगा, सुखसा ग्याछे, आदि। स्त्रियो के नाम—यागशिन, देवानपति, टाशी, पलजम दुमकू आदि। स्पष्ट है इन नामों पर तिब्बती भाषा का पूर्ण प्रभाव है।

बहुपति प्रथा

किन्नर प्रदेश के समान हांगरंग में भी बहुपति प्रथा चलती है। इसका कारण आर्थिक है। खेती तथा पशु-पालन इनके व्यवसाय हैं। पहाड़ी प्रदेश होने से खेती मे जितनी मेहनत करते हैं, उतनी पैदावार नही होती। भेड़-बकरी पालने के लिए सर्दी-गर्मी और बरसात में अपनी भेड़-बकरियो को लेकर नीचे-ऊपर बहुत दूर-दूर जाना पडता है। इसके अतिरिक्त तिब्बत के साथ ऊन और बकरी का व्यापार करने के लिए भी साल मे कई मास व्यतीत हो जाते हैं। इस प्रकार हांगरंग निवासियो के जीवन मे स्थिरता नही है। जिस घर में जितने अधिक पुरुष होंगे, वह घर उतना ही अधिक अच्छा समझा जाता है। सब भाई एक ही पत्नी के साथ एक ही घर मे रह जाते है। यही उनका कुटुम्ब होता है। यदि भाई लोग पृथक-पृथक शादी करें तो अपनी औरत को लेकर सब अलग हो जाएंगे और घर बर्बाद हो जाएगा, ऐसी धारणा प्रचलित है। जौनसार बावर और रवाई में यही मान्यता है। भविष्य में, लगता है, बहुपति-प्रथा का प्रभाव-क्षेत्र बहुत सीमित रह जाएगा। बहुपति-प्रथा के साथ ही जौनसार बावर में बहुपत्नी-प्रथा भी है, अर्थात घर मे चार-पाच भाइयों के पास आमतौर पर उतनी ही स्त्रिया होती है, जब कि ये औरते सब भाइयों की समान पत्नियां मानी जाती है। परन्तु हांगरग मे केवल बहुपति-प्रथा है। सब भाइयो के बीच एक ही पत्नी आम तौर पर होती है। अब कुछ पृथक शादिया भी होने लगी है, परन्तु उन्हे अपवाद ही कहना चाहिए। किन्नर और जाड़ स्त्री घर मे सौत को किसी भी प्रकार सहन नही कर सकती।

अविवाहित स्त्रियों को समस्या

बहुपति-प्रथा का कारण यह नही कि इस प्रदेश मे स्त्रियो की संख्या कम है। जनसख्या के अनुसार चीनी तहसील में पुरुषो की संख्या स्त्रियों से अधिक है। स्त्रियो की संख्या-वृद्धि को देखते हुए बहुपति प्रथा पर विचार करने की बात आती है। परन्तु इस प्रथा का सम्बन्ध चूकि उनके समाज की आर्थिक, नैतिक और सामाजिक परम्परा तथा परिस्थिति के साथ जुडा हुआ है इसलिए उसमे धीरे-धीरे परिवर्तन लाना ही अभीष्ट है। शिक्षा के साथ-साथ यह प्रथा अपने आप कम होती जाएगी। जौनसार बावर मे बहुपति प्रथा के साथ-साथ बहुपत्नी प्रथा भी है, इसलिए वहा कोई भी स्त्री बिना विवाह के नही रहती। परन्तु हागरंग में यह बात नही है। यहा शुद्ध बहुपति प्रथा है। इस कारण करीब दो-तिहाई स्त्रिया विवाह योग्य अवस्था में पहुंच कर भी अविवाहित रहती है। इन अववाहित स्त्रियों को हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते है :

आजन्म ब्रह्मचारिणी : जिन्होंने निश्चय कर लिया है कि वे विवाह नही करेंगी और आजन्म ब्रह्मचर्य का

पालन करेंगी। ऐसी स्त्रिया लामा से बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर सर मुंडा लेती और थोड़ा बहुत धर्माचरण करने का प्रयत्न करती है। इनको जोमो कहा जाता है।

अर्धवनी : जिन्हें अपना विवाह हो जाने की आशा है और जो उसके प्रार्थी हैं, ऐसी स्त्रिया मेले-त्योहारों पर यह सोच कर जाती है कि किसी युवक के साथ विवाह सम्पन्न हो जाएगा। इस प्रकार का विवाह युवक और युवती स्वेच्छा से मन्दिर की प्रदक्षिणा करके सम्पन्न कर लेते हैं। फिर घरवालों की स्वीकृति कुछ समय बाद मिल ही जाती है।

भग्नाशा : विवाह की आशा न होने के कारण जिन्होंने अपने माता पिता के साथ ही रहने का निश्चय किया है, परन्तु जोमो भी नही बनी। ऐसी स्त्रियो मे विवाह न होने पर भी नैतिकता के नियमो का पालन दृढता से होता है।

पं० धर्मदेव शास्त्री ने अपने एक संस्मरण मे बताया था.

"किल्वा से सांगला जाते हुए सडक पर सर्वप्रथम पाच जोमो बहने मिलीं। सडक की मरम्मत के लिए फावडे और गैंती कन्धे पर लिए ये देवियां मजदूरी पर जा रही थी। ये लड़किया ऊनी साडी, टोपी और कमीज पहने हुए थी। फर्क केवल इतना ही था कि उनके सिर मुडे हुए थे। जो लडकी जोमो होती है, वह लामाओं से दीक्षा लेकर सिर मुंडा लेती है और गुरु-दीक्षा की निशानी के रूप मे माला धारण करती है। इन पाचो में से एक की आयु केवल बारह वर्ष के करीब होगी। पूछने पर एक जोमो ने मुझे बताया कि उनके ग्राम मे एक लामाजी आए थे। उन्होंने वैराग्य और धर्म का उपदेश दिया तो वह भी और लडकियो के साथ जोमो बन गई। इतने मे एक और महिला इन जोमो लड़कियो के साथ आ मिली। इस महिला की ओर देखकर एक जोमो ने कहा कि यह भी जोमो बनी थी, परन्तु बाद में इसने विवाह कर लिया और अब यह दो बच्चो की मा है। मैंने इस महिला से जोमो और फिर विवाहित बनने का कारण पूछा तो उसने साफ बताया कि "प्रदेश के रिवाज के अनुसार विवाह से निराश होकर ही वह जोमो बन गई थी, परन्तु बाद मे अवसर मिल गया और एक युवक से विवाह की बात पक्की करके विवाह कर लिया है।"

स्त्री का आर्थिक स्थान

इस प्रदेश मे प्राय. सब काम स्त्रिया ही करती है। पुरुष खेत मे हल चलाता है और जगल मे कुल्हाड़ी से लकडी काटता है। वह बस यही काम करता है। और सब काम--खेत की निडाई, गुडाई, बुआई, कटाई, ढुलाई और गहाई सब स्त्रियां ही करती है। इस प्रकार इस प्रदेश मे आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हुए भी वे कुल मिलाकर दासता में जकडी हुई है। जिस घर मे जितनी अधिक स्त्रिया होगी, उसकी आर्थिक दशा उतनी ही अच्छी होगी। बहुपति-प्रथा के कारण सब भाई एक ही स्त्री लाते है। इसलिए घर का काम चलाने के लिए बहुधा माता-पिता अपनी लड़कियों का जोमो बनना पसन्द करते है और प्रोत्साहन भी देते है, क्योकि जोमो बन कर उनकी लड़किया और बहनें सारी आयु घर का काम करती रहती है। उन पर व्यय अधिक नही होता। मा-बाप लड़को की अपेक्षा जोमो लड़कियो पर अधिक विश्वास करते है।

बौद्ध लामाओं के समान जोमो लडकिया पीले कपड़े पहनती है। फावड़े हाथ मे लिये खेतो में काम करती है। ब्रह्मचर्य का कठिन व्रत लेने वाली ये कन्याएं समूचे महिला-जगत के लिए महान आदर्श हैं।

जोमो स्त्री किसी के प्रति आदर व्यक्त करने के लिए जीभ निकाल कर विनम्रता प्रकट करती है। तिब्बत मे भी जीभ निकाल कर ही बडो का अभिवादन करने का तरीका है। जीभ निकाल कर अपने आपको रक्षणीय बताना ही इसका अभिप्राय हो सकता है।

लोक साहित्य

हांगरंग के निवासी कुछ बिगड़ी हुई तिब्बती भाषा बोलते हैं। तिब्बती लिपि में इधर के पढ़े-लिखे अपनी भाषा लिखते भी हैं। इस प्रकार हांगरंग की भाषा और लिपि तिब्बती है। इस भाषा का साहित्य प्रकाशित नहीं हुआ है, फिर भी लोक-गीतों तथा लोक-कथाओं के रूप में गाया-बताया जाता है। हांगरंग के निवासी अदालती कार्य के सिलसिले में जब चीनी आते हैं, तब उनकी भाषा को समझाने के लिए ऐसा दुभाषिया ढूंढना पड़ता है, जो किन्नर भाषा के साथ ही हांगरंग की भाषा भी जानता हो।

वेश-भूषा तथा रीति-रिवाज

हिमाचल प्रदेश में सरहान से कानम तक किन्नर वेश-भूषा चलती है। स्त्रियां ऊन की धोती, चोली और सिर पर गोल ऊनी टोपी पहनती हैं। पुरुष ऊनी पाजामा, खुला ऊनी कोट और सिर पर ऊनी टोपी पहनते हैं। पांव में जूता भी ये लोग ऊन का ही पहनते हैं। सरहान से कानम् तक यही वेश-भूषा है। नाक में छोटा-सा चांदी का आभूषण और चोली पर चांदी का बटननुमा गहना ही आम तौर पर पहना जाता है। मेले और त्योहारों के अवसर पर स्त्रियों को कानों और गले में बड़े-बड़े चांदी के वजनी आभूषण पहने भी देखा जाता है। चार किलो वजन तक के गहने पहनने का यहां रिवाज रहा है।

हांगरंग में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। इसलिए घर में जामाता रखने का आर्थिक महत्व है। बहुपति प्रथा का प्रधान कारण भी आर्थिक है। अविवाहित स्त्रियों की बहुलता के बावजूद इस प्रदेश में दुरा-चरण नहीं के बराबर है। किन्नर प्रदेश में स्त्रियां शराब नहीं पीतीं। परन्तु हांगरंग में स्त्रियां भी शराब पीती हैं।

पुरग्युर का देवता

हांगरंग में कहावत है : "रीग्यत्वो पुरग्युर"—अर्थात ऊंचे शिखरों का राजा पुरग्युर है। ऐसे ही कैलाश के बारे में भी कहा जाता है : 'कांगी-ग्यत्वा तिवते'—अर्थात् हिमाच्छन्न शिखरों का राजा कैलाश है।

चीनी के सामने जो कैलाश का शिखर है, उसको हांगरंग वाले 'रल्दंग' अर्थात् प्रेतों की सभा का स्थान बताते हैं।

पुरग्युर-शिखर पर अब तक कोई नहीं चढ़ सका। ऊपर के भाग पर चिकना और गोल पत्थर है, जहां बर्फ भी नहीं टिकती। जब से पृथ्वी बनी है, तब से ही यह धर्म-देवता भी है, ऐसा इस प्रदेश के निवासी मानते हैं। यह देवता मांस नहीं खाता। और भी कुछ नहीं मांगता। फिर भी रक्षा करता है। भेड़-बकरियों को रोग-मुक्त करता है। इसलिए पुरग्युर देवता में हांगरंग की विशेष श्रद्धा है। कैलाश से ऊंचा होने पर भी पुरग्युर के शिखर पर बरफ नहीं टिकती। इसका कारण यह है कि मान सरोवर के पास वाले कैलाश ने पुरग्युर को शाप दिया कि तू मुझसे ऊंचा अवश्य है, परन्तु तेरा सिर सदा नंगा ही रहेगा, उसपर बर्फ नहीं टिकेगी। इसलिए पुरग्युर के शिखर पर बरफ गिरती तो है, परन्तु टिकती नहीं। इस मन्दिरमें दो-तीन पत्थर रखे हैं। उनमें गढे से पड़ गए हैं। कहा जाता है कि पुरग्युर ने इस तरह अपना चमत्कार दिखाया है। इन पत्थरों के ये गढे उसकी उंगलियों के निशान हैं, ऐसा समझा जाता है। हांगरंग के यायावर तथा अन्य लोग इन पत्थरों पर तेल चढाते हैं, धूप-बत्ती भी कभी-कभी फुरसत के समय कर लेते हैं। पुरग्युर देवता की ओर से अनिष्ट का भय तो है नहीं, इसलिए-इस देवता की पूजा नियमपूर्वक नहीं होती। फिर भी इसकी मान्यता बहुत है। नाको में झील के किनारे एक छोटे से मकान में पुरग्युर के चमत्कारी पत्थर दीवार में लगाए हुए हैं। कहते हैं हजारों साल पूर्व एक बार लामा और पुरग्युर देवता का झगडा हुआ। दोनों अपने-आपको बडा बताते थे। दोनों नाको आए और पत्थर पर

किन्नरियां

लाहौल स्पिति के यायावर

कुल्लू और कांगड़ा के यायावर

मनाली की युवतियां

पशुओं के लिए चारा ढोते हुए

लाहौल के लामा

अपने गांव में

प्रगति की ओर

अपनी उंगलियों का निशान बनाने पर परीक्षा हुई । जो काम लामा न कर सका, वह पुरग्युर ने कर दिखाया और, एक ही नहीं, तीन पत्थरों पर उंगलियां रखी तो पत्थरों पर निशान पड़ गए । लामाजी अपना-सा मुंह लेकर तिब्बत की तरफ चले गए । पुरग्युर शिखर तक ही भारत की सीमा है ।

हागरंग जब तिब्बत के अधीन था, तब वहा भोटिया राजा राज्य करता था। तिब्बत के कुवे ग्राम की रानी को बुशहर का राजा ले आया था । दहेज में हांगरंग का इलाका बुशहर के राजा को मिला । चाहे कुछ भी हो, हागरंग वालों की रिश्तेदारी तिब्बत वालो मे नहीं होती । ये लोग तिब्बतियों से अपने-आपको अच्छा मानते हैं । वे अपने-आपको पूरा भारतीय मानते हैं ।

पशुओं को नई नस्लें

तिब्बत के याक और भारत की गौ के संयोग मे एक नई नस्ल पैदा की गई है जिसे जो या जोफो (नर) और जोमो (मादा) कहा जाता है। इस प्रदेश में जोफो से ही हल चलाया जाता है। बैल हैं, परन्तु निठल्ले हैं। उनसे केवल गोबर और प्रजनन का ही कार्य लेते हैं। इसका कारण यह है कि जोफो जल्दी और अधिक भूमि में हल चलाता है। देखने मे आया है कि एक जोड़ी जोफो ने एक ही घंटे में पाच बीघे से अधिक हल चला दिया; हल वाला ही थक जाता है, जोफो नही थकता ।

शिवजी का बैल

जोफो ग्यारह हजार फुट से नीचे वाले प्रदेश में नही ठहर सकता। हागरग मे भी मई-जून के महीने में तापमान अधिक रहता है । किसान जोफो से काम लेकर छोड़ देते हैं । वह पहाडी चोटियों पर घास चरने चला जाता है । इसकी आवाज भयानक होती है। उससे व्याघ्र भी डर जाते हैं। कहते हैं कि कैलाश मे शिवजी बैल की सवारी करते थे । यह सत्य हागरंग मे जाकर पता चलता है। जहा घोड़े के लिए भी जाना कठिन है, ऐसे दुर्गम मार्गो मे जोफो की सवारी बहुत ही आराम की है। जहा बकरी का भी जाना कठिन है, वहा भी जोफो आराम से बोझ उठाकर पहुंच जाता है । कैलाश में स्वभावत. शिवजी इस बैल पर ही सवारी करते होंगे । जोफो के सारे शरीर पर लम्बे-लम्बे बाल होते हैं। पूछ में भी बालों का गोल गुच्छा होता है । उसकी नाक मे ऊट की तरह नकेल डालकर एक आदमी आगे-आगे चलता है। इसी प्रकार इनसे हल चलाया जाता है।

याक की मादा डीमो कहलाती है । डीमो मे बैल का संयोग बहुत कम होता है, क्योकि यह पशु ऐसे दुर्गम स्थानों मे रहता है कि जहां बैल का पहुचना बहुत कठिन है। फिर भी यदि डीमो और बैल का संयोग हो जाए तो इस संकर जाति को गरजफ कहते हैं । यह पशु सबसे अधिक बलवान होता है। याक और गौर के संयोग मे जोफो (नर) और जोमो (मादा) होते हैं। जोमो को आख्ता कर लिया जाता है। यदि ऐसा न करें तब भी खच्चर की तरह इससे सन्तान नही होती । तीन नस्लो मे जोफो फिर बैल और गौ बन जाता है। इन संकर जातियों की आवाज मे अन्तर रहता है ।

9

कुछ और यायावर

जम्मू-कश्मीर के गुज्जर कृषक है तथा पशुपालन भी करते है। जहा जमीनें है वहा प्राय: सभी गुज्जर खेतों के काम मे लगे हुए मिलेंगे और जहा कृषि-योग्य भूमि उपलब्ध नही है वहां पशुपालन ही उनका मूल व्यवसाय होगा। यहां चावल की पैदावार के लिए पर्याप्त पानी प्राप्त नहीं होता, अतः उन्हें वर्षा पर ही अधिक निर्भर रहना पड़ता है।

कृषक गुज्जर हल चलाते हैं। उनके हल अन्य लोगो के हलो की अपेक्षा कुछ छोटे होते है। वे अपने खेतों मे एक या दो फसलें उगाते है। उल्लेखनीय है कि हिमाचल की अपेक्षा यहा का गुज्जर अधिक संगठित है।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा तथा दिल्ली में भी गुज्जर समाज के लोग काफी संख्या मे पाए जाते है। लेकिन इनके रीति-रिवाज पहाड़ी गुज्जरों से कई दृष्टियो से भिन्न हो गए है। वास्तव में ऐसा लगता है कि किसी भी समाज पर देश-काल और अन्य परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है और उसी के अनुकूल समाज अपने को ढाल लेता है। राजपूती शौर्य के प्रतीक, मैदान के ये गुज्जर अब अन्य उन्नत समाजो के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चल रहे है, हालांकि शिक्षा तथा आर्थिक स्थिति की दृष्टि से अभी ये लोग काफी पिछड़े हुए है। गांवों में ये लोग खेती करते है या गाय-भैंस पालते है। कुछ लोग भैंस या बैलो को बेचने का व्यापार भी करने लगे हैं। शहरों में नौकरी तथा दुकानदारी का काम भी करते है।

उत्तर प्रदेश में एक उक्ति है :

> अहिर गड़रिया गुज्जर ग्वाला
> इन चारों में हेला मेला।

वास्तव मे इन चारों जातियों में शुरू से ही पर्याप्त संगठन रहा है और ये एक दूसरे की समय-समय पर पूरी सहायता भी करते थे, किन्तु कालान्तर मे स्वार्थ टकराए और लोग पृथक-पृथक बिखरते गए।

सहारनपुर जिले के पश्चिमी भाग मे गुज्जरों की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी रही है, किन्तु शिक्षा के मामले मे वही हालत है। दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश के गुज्जर समाजों ने अखिल भारतीय स्तर पर सामाजिक अभियान चलाए हैं।

पागी लाहौल, जौनसार बावर, देहरादून के अतिरिक्त बकरवाल आदि कुछ अर्ध यायावर समाज भी है जो अपने पशुओ को लेकर इधर-उधर घूमते रहते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ किन्नर लोग सर्दियों मे निचली पहाड़ियो पर

ग्रा जाते है । इसी प्रकार तिब्बती, जाड, खम्पा ग्रौर कुछ ग्रन्य जनजातियो के लोग भी काम-धन्धे की तलाश में इधर-उधर घूमते रहते हैं । किन्तु ये लोग ग्राशिक रूप से ही यायावर होते है । यों तो सैलानी भी तो कुछ समय के लिए यायावर ही वन जाते हैं । हमारे कानों मे फिर लोकगीतो की ध्वनि गूजने लगती है :

कपड़े धोआं कन्न रोआं कुंजुआ।
मुक्खों बोल जवानी ओ, मेरे कुंजुआ मुक्खों बोल जवानी हो।

कुंजुग्रा ग्रौर चैंचलो की प्रेमकथा पर ग्राधारित इस गीत का भाव यह है कि दो प्रेमी प्यार के लिए कितना भारी संघर्ष करते है । समाज से लड़ते है । रोते है, चिल्लाते है ग्रौर ग्रन्तत जान की बाजी लगाने को तैयार हो जाते है ।

चैंचलो वस्त्र धो रही है, पर उसका मन कुजुग्रा के पास है । क्या करे वेचारी ! दीवानी जो वन गई है । उधर कुंजुग्रा का हाल ग्रौर भी बुरा है । वह कहता है 'प्रिये, मैंने तुम्हे ग्रपने प्यार की निशानी दी हुई है । याद है न वह प्यारी-प्यारी ग्रंगूठी जिसे मैं मेले मे खरीद कर लाया था ? उस दिन सायंकाल मनी-महेश के मन्दिर के सामने खडे होकर पहनाई थी । यह मेरे प्यार की ग्रमर निशानी है । याद रखना, उसे कभी ग्रलग न करना, मेरी चैंचलो ।"

लगता है इन प्रणय गीतों के सहारे ही लोग बडी-से-बडी विपदाए झेल जाते हैं, कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी मुस्कराते रहते हैं । भीतर का दर्द उन्हे पथ मे विचलित नही होने देता, बल्कि जीवन मे ग्रौर ग्रधिक काम करने की प्रेरणा देता है । वस्तुत प्यार ही तो है जो ग्रादमी को त्याग ग्रौर स्नेह का पाठ पढाता है । इस पाठ को किसी स्कूल की पुस्तक म नही पढा जाता । यह तो हृदय की पोथी का विषय है ।

ग्रौर पहाड़ का यह भोला-भाला ग्रादिवासी प्यार की इस भाषा को जितनी बखूबी समझता है, उतना मैदान का प्रेमी नही ।

एक ग्रादिवासिन ग्रपने वनचर प्रेमी से ग्राज की रात रुकने के लिए ग्रनुरोध कर रही है । बस एक रात ग्रौर रुक जा । कल ग्रपने पशुग्रों को लेकर चले जाना ।

अज्जे री राती री माड़े गद्दिया, री माड़े मितरा,
अज्जे री राती तू रो....

ग्रौर यह प्यार की रात भोर के तारो को देखकर फिर किसी दर्द में समा जाती है । ग्रोह, कसा दर्द है यह जिसे पढ़ा-लिखा समाज नही पढ़ सकता । पर यायावर उसे न केवल पढता है, प्रत्युत गुनता भी है ग्रौर फिर जीवन मे उतारता है । प्यार का पथ प्रशस्त करता है ।

10

आज का यायावर

वर्षों का अन्तराल।

हिमाचल प्रदेश की हरीतिमा ने पुनः पुकारा और मैं चल पड़ा अपने उस प्रिय प्रदेश की ओर हिमालय की घाटियों में विचरते गावों को निहारने! पिकनिक स्पॉट के स्थान पर मानव को तलाशने। भोले-भाले गद्दी मित्र से मिलने, यायावर गुज्जर को गुनने और घुमन्तू जीवन को पढ़ने। कई कल्पनाएं थीं। भारत कितना बदल चुका है। मेरे प्रिय यायावर नहीं बदले होंगे क्या? नागरीकरण ने मानवीय मूल्यों में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिए हैं तो क्या पहाड़ तक यह टकराहट नही पहुंची होगी? राष्ट्र की प्रगति का कुछ वरदान यहां तक भी पहुंचा होगा जरूर।

दिल्ली से शिमला। शिमला से कुल्लू, मनाली और फिर धर्मशाला, कागड़ा। इस बार चम्बा के स्थान पर धौलाधार का मोह कचोट रहा था। इसी क्रम में मैं पहुंच गया गद्दियों के उन डेरों तक जहां से वे जल्दी ही वापस जाने वाले थे। भरमौर से प्रतिवर्ष उनका काफिला आज भी इधर आता है।

कुछ स्थानों पर फोटो अधिकारी श्री कपूर और कुल्लू के जनसम्पर्क अधिकारी श्री रामनाथ मिश्र भी मेरे साथ चलते हैं और कुछ दूरस्थ क्षेत्रों में अकेले भटकने का आनन्द लेता हूं। इस बार की चढाई मुझे उतना थ्रिल नहीं दे पा रही है, जितना खनी की पहली चढाई में हुआ था। हां, पहाड़ मुझे शिकायत-भरी दृष्टि से देख रहे हैं।

दस वर्ष बाद सुध लेने आए? शहर में जाकर आपके भीतर का गांव आपको कभी विकल नहीं करता था? वहां की रंगीन दुनिया की चमचमहाट में क्या दिशाभ्रम हो गया है? क्या उच्च शिक्षा का अर्थ केवल कल्पनाजन्य आकड़ों से खिलवाड करना भर है? मुझे लगा इसी प्रकार के कुछ प्रश्न पूछ रहे हैं धौलाधार के पहाड़, पशु-पक्षी और पशु की भांति उसी तरह भार ढोते ये पर्वतपुत्र। कन्दरा-कामिनी। ऊनी डोरों से लिपटे बालक-बालिकाएं।

हिमाचल प्रदेश मे गद्दी जनजाति के हाल ही के संक्षिप्त सर्वेक्षण में मैंने पाया कि यह अर्द्ध-यायावर समाज आज भी यायावर की तरह छः महीने प्रवास में रहता है। वही अल्युमीनियम और लोहे के बर्तन। खलडू में मक्का का आटा। ऐण का साग या कोई जंगली कन्द-मूल उनकी तरकारी के लिए पर्याप्त हैं। उनका वही लम्बा डोरा आज भी कमर से लिपटा हुआ है। कितनी बड़ी यात्रा तय की है इस डोरे ने। शायद गृहस्थी का भारी-भरकम

बोझ ढोना ही इसकी नियति है। पहाड की दूभर चढाई अब इसके लिए कोई मायने नही रखती। अनवरत गति से चलते ये पाव अब समझ गए है कि इन्हें स्कूटर या कार की बात तो दूर, साइकिल भी नसीब नहीं होगी। इन्हें तो बस अपने ऊपर ही चलना है।

एक यायावर से पूछता हूं, "आजकल हमारे देश का प्रधानमन्त्री कौन है? जरा नाम तो बताओ।"

"महात्मा गाधी, बाबूजी।" मुझे उत्तर मिलता है। मैं विस्मय से दूसरे व्यक्ति की ओर देखने लगता हूं।

"वे तो राष्ट्रपिता थे। कभी के स्वर्गवासी हो गए।"

"तो जवाहरलाल जी होंगे, साब।" एक सत्तर वर्षीय गद्दी बोला।

"पर वह भी कभी के चल बसे, बाबा।"

वे विस्फारित आखों से मेरी ओर देख ही रहे थे कि एक युवती सहमी-सी आगे बढी। "श्रीमती इन्दिरा गाधी है हमारी प्रधानमन्त्री," वह बडे विश्वास के साथ बोली। मैंने राहत की सास ली।

मैं सोचने लगा-"देश में इतनी बडी क्रान्ति हुई, एक बहुत बडा परिवर्तन आया, जनमानस को नई दिशा मिली, किन्तु इन यायावरों के अभिशप्त जीवन को क्या मिला? हमारे कर्णधारो मे से कितनो का ध्यान उधर जाता होगा।"

भों-भो-भों—शेर जैसा एक कुत्ता मेरी तरफ बढ रहा था। भेड और बकरियो का झुड उसने एक ढलवा खेत में इकट्ठा कर दिया था। अजनबी से वह न तो स्वय ही दोस्ती करता है और न ही अपने मालिक को मिलने देता है। गद्दी ने सीटी दी और वह वही रुक गया। मेरी जान मे जान आई। पूछने लगा, "गद्दियों के एक कुत्ते ने मेरी भी जान बचाई थी, एक तेंदुए से दस साल पहले। क्या अब भी उन्हें जंगली पशुओं का मुकाबला करना पड़ता है?"

"जी हा, देखते नही कितना मुस्टंडा लगता है यह। सारे रेवड की चौकीदारी करता है। बड़ा वफादार जानवर है मेरा मोती।"

ये दृश्य थे धौलाधार के, और अब इसी समाज का एक दूसरा पहलू गद्दी समाज का एक गाव मिलता है घनियारा। यहा भरमौर से बहुत-से परिवार आकर बस गए हैं। घनियारा गाव मे काफी गद्दी परिवार रहते हैं। दाडनू तो पूरा ही गद्दियों का गांव है। लेकिन यहा तो टी० वी० सेट भी है, जो पंचायत-घर में लगा है। यहा का प्रधान एक गद्दी ही है। वह धर्मशाला मे पेंटिंग का काम करता है। यहां के बाजार मे आसपास के बहुत-से गद्दी स्त्री-पुरुष आते रहते हैं। सामान खरीदते हैं, जगली शाक-भाजी बेचते हैं या कोई और धन्धा करते हैं। शाम को अपने-अपने गाव लौट जाते हैं।

एक ग्रेजुएट से मिलता हूं। इसी समाज का है, किन्तु पूरा परिचय देने मे कतरा रहा है। कुछ और तथ्य प्राप्त होते हैं। इस बार एक एम० एल० ए० भी इसी समाज का व्यक्ति चुनकर आया है। यहा से नहीं, भरमौर से। कागड़ा मे इन्हें अनुसूचित आदिमजाति नही माना जाता, जबकि इनके रिश्तेदार भरमौर मे रहते हैं और वहा आदिम जाति को मिलने वाली पूरी सुविधाएं उठाते हैं। एक ही समाज, एक ही प्रदेश, एक रक्त किन्तु धौलाधार के इस पार आते ही वे आदिम जाति नही रहते। कितनी विडम्बना है। मुझसे कई शिक्षित बेरोजगार युवकों ने शिकायत की कि उन्हें किसी भी प्रकार की सुविधाएं नही मिलती और पढ-लिखकर यदि रेवड ही चराना है तो फिर मां-बाप का पैसा फूंकने से क्या लाभ!

यह तो सही है कि इधर के गद्दी गावों मे बडा परिवर्तन आया है। वहां शिक्षा बढी है। आर्थिक स्थिति भी कुछ सुधरी है। युवक बेलबाटम पहनने लगे है। कुछ हिप्पी टाइप भी देखने को मिले। रेडियो, ट्रांजिस्टर

लिए फिल्मी गीत सुनने में उन्हें मजा आता है। उन्हें अपनी परम्परागत वेश-भूषा, रीति-रिवाज और लोकगीतों–लोकनृत्यों से कोई लगाव नही रहा। अपने नाम के साथ गोत्रों को लगाने का फैशन भी बढा है। गद्दी राजपूत अपने को श्रेष्ठ मानने लगे है। गद्दी ब्राह्मणों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। राठी गद्दी राजपूत गद्दियो की अपेक्षा कुछ निम्न माने जाते है। सिपि और रेहरा गद्दी सबसे निम्न स्तर पर है। एक ही आदिम जाति मे इतनी सारी उपजातियां और भेदभाव! वास्तव में हिन्दू समाज की जाति-पाति तथा ऊच-नीच की भावना ने आदिवासियों को भी अछूता नही छोड़ा। हिमालय की किसी भी जनजाति के गाव मे चले जाइए, वहा कई उपजातिया मिल जाएंगी जिनमे आपस में ऊंच-नीच की भावना मिलेगी। प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में विचरता, कष्ट सहता आदिवासी भी शहरी संस्कृति का शिकार बन गया है।

बैसाखू अभी-अभी चम्बा से लौटा है। मुझे पहचान लेता है। बड़े प्यार से अपना कम्बल बिछा कर मुझे बिठाता है। बिना पूछे ही गदियार इलाके की चर्चा शुरू कर देता है। उसे अभी तक यही नही पता कि मेरा शोध-कार्य कभी का पूरा हो चुका है। तथापि मैं बड़े ध्यान से उसकी बात सुनता हू।

"मितरा, आपको याद होगा, मेरी कोई बहन नही थी और कोई गद्दी बट्टे मे अपनी लड़की देने को तैयार नही था। मैं अब भी कुवारा हूं। कहाँ से बहन लाऊं और दुल्हन के बदले दूं। आपको तो पता ही है हमारे यहा आटे-साटे का रिवाज अभी तक चला आ रहा है। एक की बहन दूसरे के यहा। कैसा अजीब रिवाज है।" बैसाखू गहरे विषाद में डूब गया था।

मैंने उसे सचेत करते हुए कहा, "लेकिन बैसाखू, यह रिवाज तो राजस्थान के राजपूतो मे अरसे से रहा है। सिन्धियों मे भी है और कई अन्य तथाकथित उच्च समाजो में भी है। तुम्हारे गाव मे उन दिनो एक विधवा रहती थी। उससे शादी क्यो नही कर ली?"

पता चला कि उसी गाव के दूसरी जाति के किसी आदमी से उसके सम्बन्ध हो गए थे। जब उसने एक पुत्र को जन्म दिया तो सारे गांव मे भेद खुल गया। उसे नाम बताना पडा। बच्चा बड़ा होता गया और उसे "हाल्लड" की संज्ञा दी गई। कितनी अच्छी बात है कि उस बालक को आज हेय-दृष्टि से नही देखा जाता। कोई उन्नत समाज होता तो बेचारे का पैदा होते ही गला घोंट दिया जाता या उसकी मा जहर खाकर मर जाती। भारत के उन्नत समाजो मे आज भी कितनी विधवाएं जीवन भर घुट-घुट कर मरती रहती है। राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द जैसे समाज-सुधारकों ने विधवा-विवाह की व्यवस्था तो की, लेकिन बड़ी संख्या है विधवाओ की आज भी। लेखक को पिछले दिनो युद्ध में मरने वाले सैनिकों की विधवाओ के सर्वेक्षण के दौरान पता चला कि इस देश में आज भी दस हजार विधवाए ऐसी है जो नारकीय जीवन बिता रही है। उनका यही अपराध था न कि उनके शहीद पति देश की रक्षा मे हंसते-हंसते प्राण न्यौछावर कर गए। उनके साथ क्या-क्या होता है, यह अलग चर्चा का विषय है।

विषयान्तर के भय से यायावर जनजीवन मे फिर एक बार झाकने लगता हूं। जादू-टोने में यहां का जीवन आज भी जकड़ा हुआ है। चेले पर विश्वास में कुछ कमी तो आई है, किन्तु वैद्य या हकीम से निराश हुआ रोगी उसी की शरण लेता है। बलि के लिए मेमना भेंट करता है। भेड-बकरियों मे रहने वाला मानव भेड़-बकरी का-सा जीवन व्यतीत कर रहा है। जंगल का गार्ड उसे आज भी परेशान करता है। जिनके पास जमीनें है, अब बंट कर छोटे-छोटे खेतो में बदल गई है। इन लोगों मे बहुपति प्रथा तो है नही, जो जमीनें न बटें।

कुछ आगे बढता हूं। गुज्जरों का एक काफिला चला आ रहा है मेरी ओर। वही लम्बा कुर्ता, तहमद और सिर पर पगड़ी, चेहरे पर दाढ़ी। कुछ भी नया नही। स्त्रिया भी पुराने ढंग की पोशाक पहने है।

"क्या देखते हो साब! हमें जंगलात के अफसर आज भी परेशान करते हैं," गुज्जर बोला।

"लेकिन अब तो जनता का राज है, मिया" मेरे एक साथी बोले।

"इससे क्या फर्क पड़ता है बाबू। हमारी इस हालत को देखने की फुर्सत किसे पडी है," वह बोला।

तभी गुज्जर महिला ने भैंस का दूध दुहा और हम लोगो की ओर बढाते हुए कहा, "बाबू, सारी दुनिया बदल सकती है पर हम नही। हमारा दूध देखो कितना असली है। इसमे अब भी हम मिलावट नही करते।"

मुझे तभी स्व० पं० धर्मदेव शास्त्री की वह बात याद आई जो उन्होंने गुज्जर सम्मेलन, देहरादून मे कही थी। उन्होंने इन्हें जंगल से कई प्रकार की सुविधाएं दिलाने की माग की थी। सरकार ने उनकी मागें स्वीकार भी की थी। पंडित जी को गुज्जर अपना देवता मानते थे। गुज्जर ही क्यो, हिमालय का समस्त यायावर समाज उन्हें अपना हितैषी मानता था।

कुछ और आगे बढ़ता हूं। देखता हूं, भोटिया परिवार के कुछ सदस्य पहाड़ की खड़ी चढाई हाफ-हाफ कर तय कर रहे हैं। इनमे भी तो कोई खास परिवर्तन नही दिखाई देता। मैं उनसे उनकी आर्थिक दशा के बारे में सवाल करता हूं, जिनके उत्तर निराशा उत्पन्न करते है।

कुछ और यायावर लोगों से मिलता हूं। परिवर्तन के नाम पर कही-कही ट्रांजिस्टर या घडिया मिलती है या युवा वर्ग थोड़ा-बहुत बेलबाटम तक पहुंचा लगता है। आगे नही बढा।

एक खानाबदोश परिवार यात्रा के लिए जा रहा है। एक युवक लाल झंडा लिए है तो दूसरे के हाथ में एक बकरी का बच्चा है, जिसे देवता की बलि चढाना होगा। तीन युवतियां भी साथ है। जिनमें से दो परम्परागत वेष-भूषा में हैं और एक ने सलवार-कुर्ता पहना हुआ है। मैं उस दृश्य को कैमरे में उतारने का लोभ संवरण नही कर पा रहा हूं। मेरा हाथ अपने कैमरे की ओर बढने लगता है। शायद "स्माइल" कहना चाहता हू, किन्तु तीनो युवतिया मुह फेरकर खड़ी हो जाती हैं। पीछे देखता हू तो उनकी बूढ़ी मा खड़ी हुई मुस्करा रही है। "बाबू, फिल्मो के लिए फोटो खींचते हो ना। ना, ना, यह पाप है। हमारी लड़किया रूप की दुकान नही है। जाओ, अपना रास्ता लो।'

मैं सोचने लगा, इस रूप मे कितने बदल गए हैं ये लोग। अपने बारे में इनका चिन्तन ऐसा तो नही था दस साल पहले। शायद मैदान के सैलानियों ने इन्हे सताया होगा। नाजायज रूप से परेशान किया होगा। मेरे साथ एक दूसरे आदिवासी गाव के प्रधान खड़े थे। वह कह रहे थे, "साब, अब तो हमारी औरतों की फोटो छापने से पहले लिखित अनुमति भी लेनी पड़ा करेगी, नही तो मानहानि का दावा कर दिया जाएगा।"

"बाप रे", मेरे मुख से निकला। "कहा वह घूमता-फिरता यायावर और कहा रूप का यह गुमान! एक ही समाज के दो रूप। विरोधाभास। विसगतिया।"

मैंने देखा, मेरे कुछ परिचित चेहरे फोटो खिचवाने के लिए मेरे सामने खडे हैं।

और अब एक अन्तिम निष्कर्ष :

इंस्टीट्यूट आफ एडवास्ड स्टडीज में हिमाचल की जनजातियो के कार्यकर्त्ताओ को निमन्त्रित किया गया था ताकि शोध-विद्वानो की अपेक्षा उनके मुख से उनकी समस्याएं सुनी जाएं। एक कार्यकर्त्ता ने कहा, "आज हमारे पास किसी नई नृत्य-मुद्रा को सीखने का वक्त नही है, न ही लोकगीत की किसी नई धुन में मगजपच्ची करने की फुरसत है। हमे तो आलू का भाव जानने की अधिक चिन्ता है या अपने पशुओ के लिए चरागाह तलाशने की फिक्र है। यदि शोध-छात्र हमारी मदद इस कार्य के लिए कर सकते हैं तो बेशक करें।"

परिशिष्ट—1

गीत गाते पर्वत

रात ने रास्तों को रोक दिया है। पहाड़ियां यमदूत-सी मुह बाए खडी है और घाटियां मौत का पैगाम सुनाने को तैयार है। आपने जरा गलती की और पांवों को संभालकर नहीं रखा तो सीधे पाताल की सैर करनी होगी।

काफिला रुक गया है हिमालय के इन खानाबदोशों का। डेरे तान लिए गए हैं। तम्बू की शक्ल के ये डेरे आदिम युग की याद दिलाते हैं।

मानव जब कन्द-मूल-फल पर जीता था, आखेट करता था या जंगली जीवन व्यतीत करता था तो उसे गांव बसाने का विवेक नही था। जहा रात हुई वही ठहर गया। गुज्जर जनजाति आज भी शायद इस विवेक को महत्व नही देती। महाराणा प्रताप के वशज गाडिया लुहारों की भाति गुज्जर भी अपना सारा घर अपने साथ रखते है। दिन छिपते ही उनके तम्बू तनने लगते हैं। और इधर दूर किसी पहाडी गाव मे लोकगीत गूजने लगा है :

बाड़ुए सुआड़ुए तू कजो झाकदी, झका कजो मारदी,
दो हथ बुटणे दे लायां फूलमू, गल्लां होई बीतियां।
बुटणा लगोण तेरी ताई चाचियां, रांझू सको मामियां,
जिन्दा दे मना बिच चाओ रांझू, गल्लां होई बीतियां।
कुनी ब्रह्मणे तेरा ब्याह लिखिया, रांझू बियाह लिखिया,
कुनी कीती कुड़मई रांझू गल्लां होई बीतियां।
बाहरे बाहरे रांझू दी जानो चली, भाइयो डोला चल्या,
बाहरे बाहरे फूलमू दी लाश चली, गल्लां होई बीतियां।
रखो तो कहारो मेरी पालकिया, रखो पालकिया,
फूलमू जो दाग लगाणा जानी, गल्लां होई बीतियां।
बांए हत्थे रांझू चिता जे चिणी, रांझू चिता जें चिणी,
देहिणे हत्थे लाया लांबू भाइयो, गल्लां होई बीतियां।
दोस्ती नी लाणी फूलमू कच्चेयां कने जानी, कुंवारया कने,
ब्याही करो हुंदे बेईमान सेइओ, गल्लां होई बीतियां।

राझू और फुलमो का यह देश भी बहुत निराला है जहां आज भी उनके प्रेम-गीत गूज रहे है। नृत्य की *थिरकन के साथ जब ये पंक्तिया होठो पर तैरती हैं तो प्रकृति प्रणय के ओसकणो में भीग उठती है।* पशु-पक्षी किसी अव्यक्त आतुरता मे फडफडाने लगते है। पहाड किसी मौन प्रार्थना में लीन दिखाई पड़ते हैं।

इस लोकगीत मे रांझू और फुलमो की प्रणय-कथा गुथी है। एक लोकगाथा है कि राझू किसी धनी जमीदार का लडका था और फुलमो-थी किसी गरीब मा-बाप की बेटी। राझू का पिता अपने लड़के की शादी किसी गरीब घर की लडकी से नही करना चाहता। अत : उसने किसी और लड़की को तलाश किया। जब राझू को बूटणा लगाया जा रहा था तो फुलमो से नही रहा गया। वह उसे पीछे से देखने के लिए गई।

रांझू ने जब फुलमो को देखा तो उसके दिल में भावों का तूफान उठ खड़ा हुआ। उसने फुलमो से कहा कि वह भी बूटणा मन कर उसे लगा दे। लेकिन उसका मन तो कहीं और था। वह अपने घर दुख का भार लिए लौट आई। उससे जब यह भार नहीं सहा गया तो जहर खा लिया। अगले दिन जब रांझू की बारात जा रही थी तो दूसरी ओर फुलमो की अर्थी उठाई जा रही थी।

रांझू ने जब यह दृश्य देखा तो वह दौड़ा हुआ फुलमो के शव के पास गया। उसने अपने प्यार की बलिवेदी पर चढ़ी उस पवित्र मूर्ति को निहारा। उसे कन्धा दिया और अन्तिम संस्कार के समय चिता में लकड़ी डाल कर विचारों में खो गया। उसे लगा—"अपरिपक्वावस्था का प्यार उचित नहीं होता और प्यार में विवेक का होना भी जरूरी है।"

हिमाचल की पर्वत-श्रेणियों में आज भी इस प्रकार की कहानियां सुनने में आती हैं। यहां की भूमि की पवित्रता के कारण यहां का प्यार भी उतना ही पवित्र होता है। स्वार्थ या छलकपट लेशमात्र भी उसमें नहीं मिलेगा।

गूज्जरों के डेरे पर जाइए तो आप देखेंगे-बड़ी-बूढ़ियां अपने नन्हे- मुन्नों को जंगल की कहानियां सुनाने में लगी होंगी। बड़े-बूढ़े अपनी बहादुरी के किस्से नई पौध में भरने की कोशिश कर रहे होंगे। किन्तु गद्दी तथा भोटिया खानाबदोशों की तरह ये लोग गाने-बजाने के इतने शौकीन क्यों नहीं ? जब यह बात जाननी चाही तो मुझे स्वयं ही उत्तर मिल गया-इस्लाम में इसकी सख्त मनाही है, इसीलिए एक सच्चे मुसलमान की तरह जीवन बिताने वाले ये लोग अब भी अपने विश्वासों को संजोए हुए गीत-संगीत से परहेज करते हैं। नाच-गानों की दुनिया में रहते हुए भी वे उससे न्यारे ही बने हुए हैं। पर नृत्य तो आदिवासी जीवन का प्राण है, तब फिर यहां यह क्यों नहीं पनपा ?

गीत-संगीत की चर्चा चल पड़ी है तो यायावरों के कुछ लोकगीतों को यहां लिपिबद्ध किए बिना बात अधूरी-सी रह जाएगी। मुझे जो लोकगीत बहुत प्रिय लगे, उनमें से कुछ यहां प्रस्तुत हैं। यायावरों की मस्ती और जिन्दादिली के ये जीवन्त नमूने हैं, जिनमें कठोर जीवन में भी रस निकाल लेने की उनकी क्षमता की बानगी स्पष्ट झलकती है।

प्रणय गीत

[1]

कुंजू और चैंचलो

कुंजू : कपड़े धोआं छम-छम रोआं कुंजुआ,
मुखों बोल जबानी ओ।
मेरे कुंजुआ, मुखों बोल जबानी ओ।
हत्था बिच रेशमी रुमाल चैंचलो,
बिच छल्ला नशानी ओ।
मेरिये जिंदे, बिच्च छल्ला नशानी ओ।
काली अंखियां अम्बे दियां फाड़ियां,
बिच्च अत्थरू नशानी ओ,

मेरे कुंजुआ, बिच्च अत्थ नशानी ओ।
गोरी-गोरी बाएं लाल चूड़ा चैंचलो,
बिच्च गजरा नशानो ओ।
मेरिये जिंदे, बिच्च गजरा नशानी ओ
अद्‌दी-अद्‌दी राती मती औंदा कुंजुआ,
पंज भरियां बंदूकां ओ,
मेरे कुंजुआ, पंज भरियां बंदूकां ओ।
अद्‌दी अद्‌दी राती असां औना चैंचलो,
की करना बंदूकां ओ,
मेरीये जिंदे, की करना बंदूकां ओ।
तू ते चला परदेश कुंजुआ,
देईजा गूंठी नशानी ओ,
मेरे कुंजुआ, देइजा गूंठी नशानी ओ
गूंठी दा बसोस मती करां चैंचलो
चम्बे सुन्ना बतेरां ओ,
मेरीये जिंदे, चम्बे सुना बतेरां ओ।
मेरीये जिंदे, चम्बे सुना बतेरां ओ।
कलकीयां राती मती जांदा कुंजुआ,
देयां जिद बी बारी ओ,
मेरे कुंजुआ, देयां जिद बी बारी ओ।
कल कीयां राती दुरी जाणा चैंचलो,
कम्म पेई गया भारी ओ,
मेरीये जिंदे, कम्म पेई गया भारी ओ।

हिन्दी रूपान्तर

प्रिय कुंजू,
कपडे धोती हूँ और रोती हू
कुछ तो मुह से बोलो, मेरी चैंचलो,
तुम्हारे हाथों मे एक रेशमी रुमाल देख रहा हू
और तुम्हारी अंगुली में मेरी दी हुई अंगूठी
जो हमारे शाश्वत प्रणय का चिह्न है।
मेरे प्रिय कुंजू,
मेरी मादक काली आखों की तुमने
बार-बार की थी सराहना
किन्तु आज वही भर गई हैं
आंसुओं के दुख से
क्या यह नही है हमारे
हताश प्यार का प्रतीक ?

चंचलो,
तुम्हारी मुलायम कलाई में
चमक रही है मेरे प्यार की
एक और निशानी–
लाल कंगन
और देखो मेरा प्यार
दर्शा रही है तुम्हारे हाथों की चूड़िया।
मेरे कुंजूआ,
अब मत आना रात को इधर
मेरे घर के बाहर
बन्दूक ताने है पांच पहरेदार
शायद तुम्हारे दिल को
निशाना बनाने के लिए।
मैं जरूर आंऊगा, मेरी चंचलो।
आधी रात को
क्या बिगाडेंगी मेरा वे पाच बन्दूके?
क्या मेरे शाश्वत प्रेम को भूल सकेंगी?
मेरे कुंजू,
तुम बहुत ज्यादा बहक रहे हो
मुझे देते जाओ
एक अंगूठी अपने प्यार की निशानी।
क्यों घबराती हो
इन छोटी-छोटी बातो पर,
मेरी प्रियतमा।
सोना ही सोना भरा है हमारे चम्बा मे
और मैं तुम्हें लाद दूगा
अनगिनत आभूषणो से।
किन्तु कुंजुआ,
मुझे कल रात छोड़ कर मत जाना
मुझे अकेली छोड़कर मत जाना
मेरे प्रिय,
मैं न्यौछावर कर दूगी
अपने जीवन को
तुम्हें यहां सुरक्षित रखने के लिए।
नही, नही,
मेरी चंचलो,
मुझे कल जाना ही चाहिए
मुझे कर्त्तव्य की विवशता है
मैं उसे कैसे छोड़ दू।

[2]

अज्जे दो रातो

अज्जे दो रातो रौ मोरे गद्दिया, रौ मोरे मितरा
अज्जे दो राती तू रौ
बकरू दी दिन्नियां, छिलड़ू दी दिन्नियां
तुड़के गो दिन्नियां घियो
साबण दो दिन्नियां तेल भी दिन्नियां,
ठंडियें बोड़ियें नौ
साड़िए बोड़ियें मिरग जे पौंदे
इक्कली गो लगदा भो
अज्जे दो राती रौ मोरे गद्दिया।

हिन्दी रूपान्तर

मेरे प्रिय गद्दी
आज की रात ठहर जाओ न।
मैं तुम्हें भेंट करूंगी बकरा
और उसे पकाने के लिए शुद्ध घी;
मेरे प्रिय,
मैं तुम्हें साबुन दूंगी
तेल दूंगी
ठंडी बावली मे नहीं
तुम नही जानते
हमारी वाडी में बाघ आता है
मुझ अकेली को लगता है डर।
मेरे प्रिय गद्दी,
आज की रात रह जा यहां।

[3]

तेरा बड़ा मन्दा लगदा

तेरा मन्दा लगदा वा गद्दिया
तेरा मन्दा लगदा जो ओ
पटवारी खत लिखी नई दिन्दा

करनिया सौ-सौ छन्दा ओ गद्दिया।
तेरा मन्दा लगदा जो ओ
इकली दुकली में पणियेंगी जान्नियां
पानी पियां लाई छाम्बा ओ गद्दिया।
तेरा मन्दा लगदा जो ओ
नंग-नंगे पैरें मैं पहाड़ चढ़ी जान्नियां
पैरेंगी चुब्बी जन्दा कंडा, ओ गद्दिया
तेरा मन्दा लगदा जो ओ।

हिन्दी रूपान्तर

मेरे गद्दी !
तेरा वियोग लगता है
तेरा वियोग लगता है
पटवारी मेरी चिट्ठी लिख कर देता नही
मैंने सौ-सौ मिन्नतें की है।
मेरे प्रिय गद्दी !
तेरा वियोग लगता है।
मैं पानी भरने के लिए
अकेली जाती हूं
और ओक लगाकर पीती हूं पानी
तेरा वियोग लगता है।
ओ प्रिय गद्दी !
नंगे पाव चढती हूं मैं पहाड पर
मेरे पैरों में काटा चुभ जाता है
तेरा वियोग लगता है।

[4]

नगर बंजारे

नगर बजारे बेदी बिकदी आई
लिया मेरे चुचा ओ बेदी बिकदी आई
लिया मेरे ताऊ ओ बेदी बिकदी आई
आसां किहा लेणी मूल्ला केरी मेंहगी
चाचू ना लेंदा ताउ ना लेंदा
ले मेरे धर्मी मावे हो
तावो ना लेंदा बावा ना लेंदा
ले मेरे धर्मी मावे हो।

बाजार-शहर से वेद बिकती आई है।
मेरे चाचाजी ले लो,
वेद बिकती आ रही है।
मेरे ताऊजी ले लो,
वेद बिकती आ रही है।
बेटी, हम कैसे खरीदें।
चाचा नही खरीदता, ताऊ नही खरीदता
ले ले मेरी अच्छी मां
न ताऊ लेता है और न बाबा
मेरी अच्छी मा, तू ही ले ले।

[5]

धार देशू

मोले रे मोलाइए रे केरी मोलाई,
देउ गाणा शिरगुलो सायी जालपा माई,
भूल-चूक देवी देली रस्ते दे लाई।
गलगी रे ब्राह्मणी ओसो भोलड़े डराले,
घोरो छाड़ी शून्या आपी सीओं रे खाड़े।
बलगी री ब्राह्मणीये सत्तो लोआ कमाई,
बोरो लोई रे बाकरा राजे मिलणी आई।
"नेगियो मेरे चाकरो तुमें धर्मों रे भाई,
चालो रोही राजे मिलणी मों राजे देणा बताई।"
"घोरे बीठी रोहूं राजे रे दाने-दाने बजीरो,
म्हारे राजेरी पाणी दी होलो कलगी री जंजीरो।"
बलगी री ब्राह्मणीये सत्तो लोआ कमाई,
बाकरे री टाटी दी उभी हांसली पाई।
चोउ बीखो दी आगड़े गोई गुड़िये होई,
माये लाइरो हायटू राजेख पाई जैकारी।
बोरो जाणी बाकरा दिया नजरो घोरी।
राजे बोलो साहिबे लोउ बोलणु लाये—
"बोल वे मेरी ब्राह्मणिये कूण बोयरी आये।"
"हांडो बोयरी वयूंयलिए पालवी रे पलेणे,
भेड़ बाकरी चारी आपणी स्याणे चारे मेरे।
पाणी ख जांदे फांड़ों बाटों दा घड़ा,

होमिया मींएं लाया सोईजो में थड़ा।"
राजे जाणो साहिबे लोउ बोलणु लाए—
"मेरे जाणो घररो देशू खे बेणी सिखियां लाये।"

हिन्दी रूपान्तर

मोले रे मोलाइए केरी मोलाई (अनर्थक)।
देवता गाना है "शिरगुल" साथ ही "जालपा माई."
भूल-चूक देवी देगी रास्ते मे डाल।
बलग के ब्राह्मण हैं बहुत ही भोले डरपोक,
घर छोड़े सूने छुद गए सीम्रो की गुफा मे
बलग की ब्राह्मणी ने सत्त कमाना चाहा.
भेंट में लेकर बकरा राजे को मिलने चली।
"नेगियो और चाकरो, तुम मेरे धर्म के भाई
चली हूं राजा को मिलने, मुझे राजा बताओ।"
"साथ बैठे हैं राजा के, दाना-दाना वजीर,
हमारे राजा की पगड़ी मे होगी कलगी और जर्जार।"
बलग की ब्राह्मणी ने सत्त कमाना चाहा,
बकरे की गर्दन मे हंसली डाल दी।
चार कदम चल उसमे आगे वह घुटनों के भार चली,
मस्तक पर रख हाथ, राजा को की जै।
भेंट का—कहते है—बकरा धर दिया नजर,
राजा साहिब ने पूछा—बोले—
"बोल मेरी ब्राह्मणी, कौन बैरी है बाये।"
"घूमते हैं बैरी क्यों थली पालवी के (रहने वाले) पलेणे,
भेड़ें बकरी चराते है अपनी, जंगल चरा दिए मेरे।
पनघट जाते फोड़ते हैं रास्ते मे घडा,
होमिया मीएं ने स्थापित किया सईज मे चबूतरा।"
राजा साहिब ने कहा—बोला—
"मैं जाऊंगा घार देशू को और दूगा (उन्हें) सीख।"

आभार : श्री रामदयाल 'नीरज'

[6]

पहाड़ी मूल गीत

"मेरी सुणे राजा साहिबा होटो नोहिणी आला,
वयूंयलिया राणा बोलो जूझो से झाला।

लागी जाई नी राजा साहिवा क्यूंथलो रे धांधे,
ऊभा जाला खुशिए पाघू आओला खाटड़े दांदे।
बराघो चारो भेड़ो-बकरी छा छोलदी बील्ली,
छोटड़ी रयास्तो जुणगे री जिशी तुरको री दिल्ली।
देखोब राखे राजेआ तोएं हनुमानी गुसाइं,
फौजो रे लाले मुहरे से चादरों री छांई।
सवा मणो गुंगलो रा हुमन देओंला कराइ,
मेरी शुथो राजेआ जुझो से नि जाइ।"
"बलगो री ब्राह्मणिए, शूझी कोहिदी केहणी,
खाण्डे ल्याह् उएं जीतिओ जुणगे दी देउणी।"
"मेरी शुणे राजेआ क्यूंथलो नि जाई,
छोटी-छोटी रियास्तो सीयी मार आओला खाई।
छांटो-छांटो रे आदमी देशू आओला झंगाई,
चोजो जाणी रियास्तो री सौभी आओला गंवाई।
देखी न राखे राजा तोयें बाम्रणे रे चनालो,
फौजो रे मुहिरे खे गोउ देली छालो।"
"लाल बाथुए रा फुलखा खाणा कायू झाबरी रोटी,
दूइने गोढ़ी मेरे देखी आउणी जुणगा रो कोटी।
घोड़े लोय पलाए लोण रोठियों रू पाणी
देखी लीउएं जाइरों का तोनें कहड़ो पाणी।"
बोलगो री ब्राह्मणिए लोउ बोलणू लाई–
"छोटी–छोटी रयास्तो लोई लाज आओला लौआई।
धारो जाणों देशू री होली कायलो री छोड़ी,
ऊभा जाला पालगी दा पांछ ल्याह् ले झोड़ो।"
राजा जाणी साहिबे लोआ हुकमो लाई—
"त्यार हुओ नेगियो देखी बार तूंए लाई।"

हिन्दी रूपान्तर

"मेरी सुनते हो (गर) राजा, तो हटकर नाहन आग्रोगे,
क्योंथल का राणा लगता है—युद्ध के लिए पागल।
लगना नही है आपने राजा क्योंथल वाले धंधे मे,
ऊपर जाओगे खुशी-खुशी, पीछे आओगे दात खट्टे करा कर।
(वहा) शेर बकरी चराता है और छाछ बिलोती है बिल्ली,
छोटी-सी रियासत जुणगा की जैसे तुर्कों की दिल्ली।
देखे भी है राजा तूने हनुमान गोसाई।
फौजों के लगाएगे सामने (सफेद) चादरों की चौधक।
(और) सवा मन गुग्गल का हवन देगे करा,
मेरी (अगर) सुनते हो राजा, युद्ध को मत जाओ।"

"बलग की ब्राह्मणी, सूझी कहां से (यह) कहानी,
गाण्डे के बल पर लाऊंगा जीतकर जुणगे से राजकुमारी।"
"मेरी (अगर) सुनते हो राजा, क्योंयल मत जाओ,
छोटी-छोटी रियासतों में मार आओगे खाकर,
छंटवे-छंटवे आदमी देशू मे आओगे कटवाकर,
चोजे जितनी हैं रियासतों, सभी आओगे गवा[illegible]।
देख नहीं रखे है राजा तुमने बाइणा के [illegible]
फौजों के सामने गाएं देंगी छलागें"
"(चाहे) लाल बाघू का फुनका (या) काथू [illegible] [illegible] [illegible]टी डाऊं।"
(किन्तु) दोनों गढ मैंने देख आना है—जुणगा और [illegible]
घोड़े को पिला लेना है रोटियो का पानी,
देख लूंगा जाकर उन्होंने क्या पत्थर गिराने [illegible]।"
बलग की ब्राह्मणी बोलने लगी–
"छोटी-छोटी रियासतो मे लाज आओगे [illegible]।
देशू की धार मे कायली की [illegible]जा है,
ऊपर क्योंयल जाओगे पालकी मे पीछे लाएंगे [illegible] (लोग)।"
राजा साहिब ने हुक्म दिया—बोले—
"तैयार हो जाओ नेगियो (योद्धाओ), देखना [illegible] [illegible] सुम लगाओ।"

लागी जाई नी राजा साहिबा क्यूंथलो रे घांघे,
ऊभा जाला खुशिए पाघू आओला खाटड़े दांदे।
बराघो चारो भेड़ो-बकरी छा छोलदी बोल्ली,
छोटड़ी रयास्तो जुणगे री जिशी तुरको री दिल्ली।
देखीव राखे राजेआ तोएं हनुमानी गुसाइं,
फौजो रे लाले मुहरे से चादरों री छाईं।
सवा मणो गुंगलो रा हुमन देओला कराइ,
मेरी शुयो राजेआ जुझो से नि जाइ।"
"बलगो री ब्राह्मणिए, शूझी कोहिदी केहणी,
खाण्डे ल्याह्‌उएं जीतिओ जुणगे दी देउणी।"
"मेरी शुणे राजेआ क्यूंथलो नि जाई,
छोटी-छोटी रियास्तो सीधी मार आओला खाई।
छांटो-छांटो रे आदमी देशू आओला झंगाई,
चीजो जाणी रियास्तो री सोभी आओला गंवाई।
देखी न राखे राजा तोयें बाम्हणे रे चनालो,
फौजो रे मुहिरे खे गोड देली छालो।"
"लाल बाथुए रा फुलखा खाणा कायू झावरी रोटी,
दूइने गोढ़ी मेरे देखी आउणी जुणगा री कोटी।
घोड़े लोय पलाए लोण रोठियों रू पाणी
देखी लीउएं जाइरों का तीनें कहड़ो पाणी।"
बोलगो री ब्राह्मणिए लोउ बोलणू लाई—
"छोटी—छोटी रयास्तो लोई लाज आओला लौआई।
घारो जाणों देशू री होली काथली री छोड़ी,
ऊभा जाला पालगी दा पांछ ल्याह ले झीड़ी।"
राजा जाणी साहिबे लोआ हुकमो लाई—
"त्यार हुओ नेगियो देखी बार तूंए लाई।"

हिन्दी रूपान्तर

"मेरी सुनते हो (गर) राजा, तो हटकर नाहन आओगे,
क्योंथल का राणा लगता है—युद्ध के लिए पागल।
लगता नही है आपने राजा क्योंथल वाले धंधे मे,
ऊपर जाओगे खुशी-खुशी, पीछे आओगे दात खट्टे करा कर।
(वहा) शेर बकरी चराता है और छाछ बिलोती है बिल्ली,
छोटी-सी रियासत जुणगा की जैसे तुर्कों की दिल्ली।
देखे भी है राजा तूने हनुमान गोसांई।
फौजों के लगाएंगे सामने (सफेद) चादरों की चौंधक।
(और) सवा मन गुग्गल का हवन देंगे करा,
मेरी (अगर) सुनते हो राजा, युद्ध को मत जाओ।"

"बलग की ब्राह्मणी, सूझी कहां से (यह) कहानी,
झाण्डे के धन पर लाऊंगा जीतकर जुणगे से राजकुमारी।"
"मेरी (मगर) सुनते हो राजा, क्योंथल मत जाओ,
छोटी-छोटी रियासतों में मार आओगे खाकर,
छंटवे-छंटवे आदमी देशू में आओगे कटवाकर,
चोजें जितनी हैं रियासतों, सभी आओगे गंवा।
देख नहीं रखे हैं राजा तुमने बाइणा के सना[illegible],
फौजों के सामने गाएं देंगी छलांगें"
"(चाहे) लाल थापू का फुनका (या) काथू की चि[illegible]बर्[illegible] [illegible]टी डाऊं।"
(किन्तु) दोनों गढ़ मैंने देख आना है—जुणगा और [illegible]
घोड़े को पिला लेना है रोटियों का पानी,
देख लूंगा जाकर उन्होंने क्या पत्थर गिराने हैं।"
बलग की ब्राह्मणी बोलने लगी—
"छोटी-छोटी रियासतों में लाज आओगे [illegible]
देशू की धार में काथली की [illegible] है,
ऊपर क्योंथल जाओगे पालकी में पीछे लाएंगे [illegible]र (लोग)।"
राजा साहिब ने हुक्म दिया—बोले—
"तैयार हो जाओ नेगियो (योद्धाओ), देखना [illegible] तुम लगाओ।"

लाहौल-स्पिति के यायावर

(अ) लाहौली यायावर

चम्बा लाहौल के चार पटवार सर्किल-त्रिलोकनाथ, उदयपुर, मियाड़नाल और तिन्दी-जिसमें अब 14 पंचायतें हैं, लाहौल में मिली हैं। तिन्दी, पागी और लाहौल की सीमा पर हैं। मिआडनाला, उदयपुर से अन्दर घाटी में स्थित है। इसमें 13 ग्राम हैं। सकौली, चंगरट, करपट, चांगुट, तिंगुट, गुम्फान उरगोस, छलिंग, खंजर वास्ट गाव। इसके आसपास तगलू, धारी, सैलिंग बलगोट हैं। पंचायत का नाम करपट है। जिस प्रकार से जाल्ना से इधर हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म का प्रचलन है, इसी प्रकार मियाडनाले में हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म का मिश्रण है। धारी, सकौली, तगलू, घलगोट करपट मे और चंगरठ मे कुछ परिवार हिन्दू हैं, कुछ बौद्ध।

शेप गावों में बौद्ध धर्म प्रचलित है। जहा-जहा बौद्ध धर्म है, वहा अस्पृश्यता नहीं है, परन्तु जहा-जहा ब्राह्मण वृत्ति और हिन्दू धर्म का कुछ भी आभास है, वहा अस्पृश्यता का रूप दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध धर्म का सारा संस्कार लामाओं द्वारा किया जाता है और हिन्दू धर्म का ब्राह्मणों द्वारा। कुछ ऐसे परिवार भी हैं जो दोनो धर्मों को मानते हैं। त्रिगुट मे गुम्फा है। लाहौल मे तया इस ओर कुठ काठू, जौ, गेहू, काला मटर, आलू पैदा होते हैं।

लाहौल-स्पिति काफी समय तक दो भागों मे विभक्त रहा है, पागी लाहौल तथा लाहौल स्पिति। थरोट से तिन्दी तक का क्षेत्र, जिसके अन्तर्गत चार पटवार सर्किल और चार ही पचायते थी, चम्बा जिले के अन्तर्गत था। चम्बा के इस उपेक्षित और अविकसित आदिवासी क्षेत्र को पागी लाहौल के नाम से पुकारा जाता था, जिसमें पंगवाला और लाहौला तथा भोट आदिवासी रहते हैं। कुछ हरिजन हैं जिन्होंने अपनी जाति जनगणना के समय हरिजन लिखवाई है। परन्तु थरोट से इधर का जो क्षेत्र जिला कागड़ा के अन्तर्गत आता था उसे लाहौल-स्पिति के नाम से पुकारा जाता था। थरोट से पहले लोकसर तक लाहौल तथा कुंजम पास 16,700 फीट की ऊंचाई पार करके सम्बो, जो तिब्बत से आने वाले एक नाले और स्पिति नदी के संगम के साथ बसा है, स्पिति कहलाता है। परन्तु प्रशासनिक व्यवस्था और लोगों की सुविधा के लिए जब जिलों का पुनर्गठन हुआ और हिमाचल प्रदेश के जिले बढ़ाए गए तो कागडा-कुल्लू के साथ लाहौल-स्पिति को अलग जिला घोषित किया गया। प्रशासन की दृष्टि से पागी लाहौल का लाहौल क्षेत्र तथा लाहौल-स्पिति का यह क्षेत्र मिलाकर 1960 मे अलग से जिला घोषित किया गया। पहले थरोट, तिन्दी आदि के लोगो को न्याय आदि के लिए कई चोटियो को पार करके चम्बा पहुंचना पड़ता था। इससे परेशानी तो होती ही थी, अत्यधिक खर्च भी होता था। लाहौल-स्पिति का जिला बन जाने से लोगों को लगा कि अब कुछ सुविधा हो गई है।

शिमला से समूय तक पक्की और तारकोल वाली सड़क है परन्तु समूय से आफू तक लोक निर्माण विभाग की सड़क है जो कच्ची है, परन्तु काम लगा है और खोकसर से आगे मनाली तक तथा तिन्दी से तान्दी तक डी० जी० बी० आर० ने सड़क को सभाला है। तान्दी से यह सडक जम्मू कसवाड तक निकाली जा रही है। अभी तक केवल उदयपुर तक बस जाती है। इससे आगे 6 किलोमीटर तक ट्रक जा सकता है। लाहौल के कुछ

क्षेत्र ग्रौर पागी में अभी सड़क बन रही है। पागी में तरेला से ग्रौर तिन्दी से जो सामान ग्राता है उसे लोग अपनी पीठ पर लादकर ही लाते हैं। अभी वहा घोड़े-खच्चर का रास्ता भी नही बना है। वैसे सुना है कि एक बार कभी वहां घोड़ा-खच्चर गया था। कैलंग से लद्दाख-लेह 310 किलोमीटर है। यह सड़क भी डी० जी० बी० ग्रार० के ग्रन्तर्गत है। तान्दी से उदयपुर तक की सडक भी कच्ची है।

शिमला से किन्नौर या स्पिति जाने के लिए रामपुर बुशहर मे अनुमति-पत्र लेना आवश्यक है। इसकी जाच चेकपोस्ट यागतू, डबलिग चांगो, जिला किन्नौर मे समूय ग्रौर टकचा मे स्पिति मे होती है। जैसा कि पहले बताया गया है, किन्नौर से जाते समय पहला ग्राम समयू ग्राता है ग्रौर अन्तिम ग्राम लोखर है।

लाहौल-स्पिति मे जाने के लिए मनाली से रोहताग दर्रा पार करके चम्बा मे भरमौर होते हुए कुगती दर्रा पार करके अथवा किन्नौर समयू होकर जा सकते है। वैसे जम्मू-कठवाड से पागी होकर चम्बा से सीधे उस दर्रे तक जा सकते हैं, परन्तु यह रास्ता लम्बा तथा कठिन है। पर्वतीय चोटिया तो सभी कठिन हैं ग्रौर उनको बड़ी सावधानी से पार किया जाता है। शिमला से किन्नौर होकर स्पिति जाने का रस्ता आसान है। कठिनाई तो इसमे भी है, पर उतनी नही।

(ब) स्पिति के यायावर

स्पिति, स्पिति नदी के किनारे बसा है। रामपुर बुशहर से ही वैसे तो किगल से उतर कर सतलुज नदी के किनारे-किनारे होते हुए पुवारी से पियो जाकर फिर वापस लौटकर हम खबाबो तक सतलुज नदी के किनारे-किनारे चलते हैं। खबाबो से सतलुज नदी दाईं ग्रोर रह जाती है ग्रौर बाई ग्रोर स्पिति नदी का किनारा शुरु हो जाता है। सलखर, चागो, सुमरा ग्रादि गाव इसी नदी के किनारे बसे हैं। इसके ग्रागे स्पिति नदी के किनारे का पहला गाव समयू, डीवू (सड़क से दूर), हुर्रलिग, लारी, ताबो, छिलंलिग, पो, डखर, लिन्टी, लिन्डा, सेंगो, काजा गांव ग्राते हैं। ये सब गाव सडक के किनारे है। ठहरने के लिए समथू, उरलिग, ताबो ग्रौर काजा में लोक-निर्माण विभाग के विश्रामगृह हैं। ताबो एक ऐतिहासिक स्थान है। इसकी ऊचाई समुद्रतल से 10 हजार फुट है। क्योंकि ग्रौर समथू यह हमारे सीमान्त गाव हैं। ताबो एक अच्छा बडा गाव है ग्रौर ताबो पंचायत मे नदंग, युवारंग, पो, ताबो, लारी क्यूरिंट गाव है।

लाहौल-स्पिति क्षेत्र की कुछ समस्याएं

1. यहा सबसे अधिक कठिनाई लकड़ी की रहती है।
2. गेहूं, चावल, दाल, पाउडर, तेल, डालडा, नमक, मिट्टी का तेल, चीनी, गुड, चाय ग्रौर जूते, कपड़े ग्रादि का अभाव रहता है।
3. सर्दियों मे पानी की कठिनाई जीवन को ग्रौर भी दूभर कर देती है।
4. वर्ष मे एक फसल होने के कारण ये लोग गेहूं तथा जौ अप्रैल-मई में बोते है ग्रौर सितम्बर में काटते है, जिससे खाद्य पदार्थ की किल्लत रहती है।
5. दिसम्बर से अप्रैल तक रास्ते बन्द रहते है। फलस्वरूप प्राय: समय पर खाने-पीने-पहनने ग्रादि का सामान नही पहुंच पाता।

6. पीने के पानी की पहले कठिनाई थी, लेकिन 19 सितम्बर 1980 को ही हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल श्री अमीनुद्दीन अहमद खां ने पानी की स्कीम का उद्घाटन किया जिससे समस्या का कुछ हल निकला है।

7. आलू की पैदावार यहां अच्छी है। आलू का बीज लाहौल-स्पिति अथवा मेरठ से आता है। मेरठ का बीज अच्छा माना जाता है।

8. खाद, बीज समय पर नहीं मिलते।

9. सिचाई के पानी की कमी है।

10. विकास की एक नई योजना 1972 में शुरू हुई है, अभी अधूरी है।

11. परिवहन का अच्छा प्रबन्ध है परन्तु ट्रक और आने चाहिए, जिससे आलू समय पर निकाला जा सके।

12. यहां अच्छे पौधे समय पर लगाने की आवश्यकता है। बहुत से पौधे यहां लग ही नहीं सकते।

13. स्थानीय लोगों को भी पौधे अपने खेतों में लगाने के लिए दिए जाने चाहिए।

14. स्पिति में एक मरुस्थल परियोजना है परन्तु उसका क्रियान्वयन ठीक नहीं हो रहा।

15. भूमि-मृदा संरक्षण (सॉयल कंजर्वेशन) का काम पंचायतों के सहयोग से होगा, तो अच्छा रहेगा।

16. इमारती लकड़ी की काफी तंगी है।

17. बिजली की मांग उन सभी क्षेत्रों में है। यदि बिजली का अभाव न हो तो मिट्टी के तेल की आवश्यकता कम होगी।

18. समधू से खोकसर तक की सड़क डी० जी० बी० आर० को सौंप दी जानी चाहिए।

19. काजा में शराब का ठेका जब पहली बार खुला तो लोग बहुत असन्तुष्ट हुए।

20. तावो—में पर्यटक विभाग के लिए लोक-निर्माण विभाग ने विश्राम गृह तो बनाया है। लेकिन यह पर्याप्त नहीं है।

21. वन विभाग को यहां और अधिक अच्छा काम करना चाहिए ताकि यह क्षेत्र हरा-भरा हो सके।

22. पुरातत्व विभाग ने तावो के ऐतिहासिक स्थान को अपने हाथ में लिया है। यह अच्छी बात है। इस क्षेत्र में कई जगह ऐतिहासिक चित्र मिलते हैं जो खराब हो रहे हैं। इन्हें सुरक्षित रखना जरूरी है।

23. स्वास्थ्य केन्द्रों में डाक्टरों की कमी रहती है। अधिकतर स्थानों पर डाक्टर है ही नहीं; उनकी पूर्ति करनी आवश्यक है।

स्पिति में मरुस्थल परियोजना, लोक-निर्माण विभाग, सिचाई विभाग, खादी कमीशन, उद्यान विभाग, शिक्षा विभाग तथा अन्य विभागों के कार्यालय हैं।

डॉ० श्याम सिंह शशि

समाज-नृविज्ञान में पी-एच० डी० करते हुए लेखक को यायावरों के बीच रहकर सहभागिक पर्यवेक्षण करना पड़ा था और तभी शुरू हुई उसकी यायावरी। किन्तु अन्य विषय भी उसी तरह जुड़े रहे। नृविज्ञान, आदिवासी समाज, सैन्य-विज्ञान, पत्रकारिता, बाल-साहित्य आदि विषयों पर हिन्दी तथा अंग्रेजी में दर्जनों पुस्तकें प्रकाशित। अनेक काव्य-संग्रह भी प्रकाशित। प्रलेखन कार्य भी। कुछ पुस्तकें उर्दू, पंजाबी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनूदित।

'गद्दीज ऑफ दि हिमालयाज़, 'ट्राइबल वीमेन ऑफ इण्डिया', 'नाइट लाइफ ऑफ दि ट्राइबल्स', 'शेफर्ड्स ऑफ इण्डिया', 'डिफेंडर्स ऑफ इण्डिया' आदि मानक ग्रन्थ विभिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित। 'शिलानगर में' (कविता-संग्रह) उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत तथा 'वनवासी बच्चे कितने सच्चे' (बाल-साहित्य) भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत।

अनेक राष्ट्रीय, साहित्यिक संस्थाओं द्वारा सम्मानित।

देश-विदेश में व्यापक भ्रमण। यूरोप तथा अमेरिका के पच्चीस देशों की शोध-यात्रा में, एक ओर रोमा (जिप्सी) समाज पर नृवैज्ञानिक अध्ययन, तो दूसरी ओर उनके जीवन से प्रेरित प्रवासकालीन कविताओं-'यायावरी' (कविता-संग्रह) का सृजन।